एक छत के अजनबी

से० रा० यात्री

वाणी प्रकाशन
४६६७/५, २१-ए, दरियागंज, नई दिल्ली-२
द्वारा प्रकाशित

प्रथम संस्करण : १९८६
स्वत्व : से० रा० यात्री : मूल्य २०.०० रुपये
आवरण : गोविन्द प्रसाद

नरेन्द्र प्रिंटर्स हाउस
कृष्णनगर, दिल्ली-११००५१
द्वारा मुद्रित

EK CHAT KE AJNABI
by Se. Ra. Yatri

शब्द (कविता संग्रह : 1980)
उस जनपद का कवि हूँ (कविता संग्रह : 1981)
अरघान (कविता संग्रह : 1984)
50, गौरनगर, सागर विश्वविद्यालय, सागर—470003

एक

पूरे वातावरण में अजीब-सा तनाव व्याप्त था। मैं स्थिति को सहज बनाने की कोशिश करते हुए बोला, "अरे! वर्मा जी भीड़ से क्या डरना, भीड़ से तो हम कहीं भी जाकर नहीं बच सकते। फिर यह क्यों भूलते हैं, हम भी कहीं जाकर भीड़ ही हो जाते हैं। आप जरा यहाँ से निकलकर तो चलिये—मैं आपको ऐसी जबरदस्त तन्हाई में छोड़ूँगा कि आपकी तथा श्रीमती मल्लिका जी की धड़कनों के अलावा कुछ भी नहीं सुन पड़ेगा। वो किसी शायर ने कहा भी है—मैं भीड़ में खुद को एकदम अकेला महसूस करता हूँ।"

मल्लिका ने गर्दन को हल्की-सी जुम्बिश देकर मुझे देखा और यथावत तैयार होती रही। उसके पति महोदय वर्मा साहब सिर झुकाकर न जाने क्या सोचते रहे। मैंने पति-पत्नी को परस्पर गैर बनते अपने जीवन में पहले कभी नहीं देखा था। मैं बराबर ऐसा कोई उपाय सोचता रहा जिससे कि इस बोझिल स्थिति को काट सकूँ। जिस प्रकार की मनहूसियत सारे घर में फैली हुई थी उसे मैं कहानियों, उपन्यासों में अनेक बार पढ़ चुका था। पति-पत्नी के मौन कलह का भी मुझे थोड़ा-सा ज्ञान था पर वास्तविक स्थिति पहली बार ही देख रहा था। मैं कुछ तय नहीं कर पाया तो वहाँ से उठते हुए बोला, "अच्छा! वर्मा जी आप भी कपड़े-वपड़े पहनिये तब तक मैं दो-तीन प्याले काफी तैयार करता हूँ। ऐसी खुशगवार सुबह एकदम चौपट नहीं होनी चाहिये।"

मेरे अनुरोध पर वर्मा जी का चेहरा जो अत्यंत गम्भीर था कुछ बदला और उस पर अपेक्षित परिर्वतन आता दीख पड़ा। वह कुर्सी छोड़कर उठ खड़े हुए और दूसरे कमरे की ओर जाने लगे।

जब वर्मा जी दूसरे कमरे में पहुँच गये तो मैंने मल्लिका के नजदीक जाकर सरगोशी में कहा, "मल्लिका जी आप इस तरह क्यों तनी हुई हैं—जरा मुस्कराइये न।" मल्लिका फुसफुसाई, "मैं क्या खाक मुस्कराऊँ जब उसकी

कहीं रत्तीभर भी गुंजाइश नहीं छोड़ रखी है इस भले आदमी ने।"

"जब दो लोग एक ही नाव पर सवार हों और अलग हो सकने का कोई विकल्प ही सामने न हो तो क्या किया जा सकता है ? किनारा मिलने तक तो साथ-साथ रहने की विवशता को सहज बनाना ही चाहिए।"

मेरी बात से मल्लिका का चेहरा एकदम रूआँसा हो उठा और वह यह भूल गई कि उसके पति वर्मा जी साथ के कमरे में कपड़े बदलने के लिए गये हैं और जो भी मल्लिका कहेगी वह उसके कानों तक आसानी से जा पहुँचेगा। वह अपेक्षाकृत ऊँची आवाज में बोली, "साथ रहने की कोई मजबूरी नहीं है मेरे सामने। नाव के पेंदे में छेद हो जाए तो कौन उसमें बैठेगा।"

"जरूर बैठना पड़ेगा अगर कोई तैरने में माहिर नहीं है। साथ-साथ डूबने तक वहीं रहना पड़ता है।"

मल्लिका ने पलकें झपकाकर मेरी ओर देखा और बोली, "डूबने की स्थिति अंतिम होती है और अन्त से पहले और भी दस तरह की यंत्रणाएँ होती हैं। मुझे डूब जाने में कोई एतराज नहीं है मगर यह बीच की यातनाएँ मैं नहीं भुगत सकती।"

"संस्कारों के आग्रह पर जब दो स्त्री-पुरुष एक दूसरे से बँधे हों तो उन्हें कहीं न कहीं ऐसा बिन्दु तलाश करना चाहिये जहाँ वह विकल्पहीन हो सकें। अन्यथा वही काँटा किल-किल वाली हालत है—कोई भी उपाय ऐसा नहीं निकलता कि सामान्य जीवन जिया जा सके।"

"जरा-जरा सी बातों पर जब आदमी बेवजह भड़क उठे, मुँह फुलाकर बैठ जाए तो कोई चाहकर भी कब तक और कहाँ तक बरदाश्त कर सकता है—आप ही बताइए।"

मैं मल्लिका की बात को समझ रहा था। वह वर्मा जी को साथ लेकर मेरे साथ घर से निकलना चाहती थी। उसे तीन रोज मेरे यहाँ आए हुए हो गए थे। इसलिए अपने घर लौट जाने से पहले थोड़ा बहुत घूम लेना चाहती थी और थोड़ी खरीदारी का काम भी खत्म करने की सोचती थी मगर वर्मा जी भीड़ में जाने से बचने की दुहाई देकर टाल-मटोल करते चले आ रहे थे। यों वह मेरे साथ भी निकल सकती थी पर वर्मा जी का

रुख उपेक्षा का देखकर वह भीतर तक उखड़ गई थी। मैंने उसे समझाया तो वह कुछ बदल गई और उसकी आँखों में नमी उभर आई। मैं उसे वहीं छोड़कर रसोई की तरफ चला गया। मैंने सोचा था कि घर छोड़ने से पहले हल्का-सा नाश्ता तैयार कर लेना चाहिए।

मैंने टोस्ट सेंककर खाने की मेज़ पर रख दिए और काफी तैयार करके आवाज लगाई, "अरे भई वर्मा जी, जल्दी से आओ, काफी आपको बेतरह याद कर रही है। इसकी गर्मी खत्म होने से पहले लपक आओ।"

पहले वर्मा जी कमरे में घुसे और उसके दो मिनट बाद मल्लिका आती दिखाई दी। वर्मा जी आकर मेरी बाजू में बैठ गए और मल्लिका अपनी कुर्सी खींचकर मेज के दूसरे कोने पर पहुँच गई। मुझे लगा कि वह वर्मा जी से तनी हुई है और उन्हें यह बात जतलाने से स्वयं को रोक नहीं पा रही है। मेरी उपस्थिति की वजह से ज्वालामुखी भीतर ही भीतर खलबला रहा है। अगर मैं वहाँ से हट जाऊँ तो अभी तोड़-फोड़ हो सकती है। मगर मैं विस्फोट को टालने की कोशिश करता चला आ रहा था सो बिना कुछ कहे मैंने काफी का प्याला मल्लिका की तरफ सरका दिया। टोस्ट की प्लेट भी बढ़ा दी और उधर से चेहरा घुमाकर वर्मा जी से इधर-उधर की बातें करने लगा। वर्मा जी कनखियों से मल्लिका का चेहरा देख-कर मेरी बातों का अनमनेपन से उत्तर देते रहे और बेमन से काफी का प्याला होंठों तक ले जाकर बार-बार मेज़ पर वापस टिकाते रहे। मैंने उस सारी स्थिति के बेपनाह ठंडेपन को भीतर तक मससूस किया पर मैं उसे बदलने का क्षण नहीं खोज सका।

मैंने अपनी काफी का खाली प्याला मेज पर रखते हुए कहा, "अच्छा साहबान मैं दो मिनट में वापस लौटता हूँ। आज इतवार होने की वजह से नौकर तो छुट्टी मनाएगा। हालाँकि मैंने उससे कल रात आने की बात कह दी थी।"

"नौकर नहीं आयेगा तो क्या है···मैं तो हूँ।" कहते हुए मल्लिका उठी और मेज़ पर रखे बर्तन समेटने लगी। मैंने उसे रोका, "यह आप क्या करने लगीं। बर्तन यहीं पड़े रहने दीजिए। मैं साथ वालों के यहाँ चाभी देकर जाऊंगा, नौकर शाम तक एक बार जरूर चक्कर लगाएगा। फिर हमें

तो आज पूरे दिन वाहर ही रहना है इसलिए उसके न आने से भी कुछ कष्ट होने वाला नहीं है।"

"अरे तो इसमें क्या है? चार वर्तन ही तो हैं, मैं धोकर रख देती हूँ। वाद का झंझट क्यों रखा जाए। अपने घर में भी तो यही सब करना पड़ता है।"

मैंने मल्लिका को वर्तन नहीं उठाने दिए और हँसकर वोला, "चार दिन अगर आप यह भूल जाएँ कि आपको अपने घर में क्या-क्या करना पड़ता है तो कुछ बुरा नहीं है। हम जिन चीजों को अभ्यासवश वरसों-वरस करते चले जाते हैं उन्हें अगर दो-चार दिन न भी करें तो क्या बिल्कुल भूल जाएँगे? दिनचर्या को कभी न कभी तो तोड़ना ही पड़ता है। उसको तोड़ने से आदमी स्वयं थोड़ा अलग महसूस करता है—चाहे यह वहुत ही कम समय के लिए क्यों न हो?"

लेकिन मल्लिका के भीतर तो अपने पति महोदय के प्रति जवरदस्त क्रोध था। वह मेरी वात का उत्तर देते समय भी उस व्यंग्यात्मक अभिव्यक्ति पर उतर आई थी जो दुधारी तलवार की तरह तीखी और मारक थी। वह वोली, "हम औरतों को तो कोई छूट मिलनी ही नहीं चाहिए। घर से वाहर भी रहें तो क्या है—हैं तो घर की दासी औरतें ही। फिर आदत खराव हो जाने का भी तो डर है। मानिए दासी कर्म न किया तो पतियों को कैसे तसल्ली होगी। पैर की जूती, घर की नौकरानी, पति परायणा यही सव तो औरत के अलंकार और आभूषण हैं।"

मैंने उसके काटने वाले लहजे को दरगुज़र करते हुए कहा, "बहुत अच्छी वक्ता हैं आप तो। इस विषय यानी 'नारी की भारतीय समाज में दुर्दशा' पर तो आप वाकई वहुत अच्छा भाषण देंगी और प्रथम स्थान पाने में कोई शक नहीं रहेगा। लगता है कॉलेज के दिनों में खूब भाषण-वाषण देती रही हैं।"

मल्लिका मेरी ओर देखकर थोड़ा सहज हो आई और अपनी प्रशंसा से प्रभावित होकर वोली, "कॉलिज के दिनों में जव मैं इण्टर-यूनीवर्सिटी डिवेट कम्पटीशन में जाया करती थी, वैजयन्ती हमेशा हमारे कालेज को मिलती थी।"

यह वात कहते हुए वह यह तथ्य विल्कुल भूल वैठी थी कि उसने अभी

थोड़ी देर पहले जो जहर उगला था वह कालेज में वाक् प्रतियोगिता का विषय नहीं था। यह उसका अपने पति के प्रति व्यक्त किया गया आक्रोश था। जो भी हो, मैंने उसकी विस्मृति का लाभ उठाया और जल्दी मचाते हुए बोला, "अच्छा अब देर मत करो। यहाँ से दिल्ली बीस-बाईस किलोमीटर दूर है। वहाँ तक पहुँचने में दोपहर हो जाएगी। फिर थोड़ा घूमना-फिरना भी है। आप लोग बाहर निकलकर सड़क पर खड़े हों तब तक मैं ताले-वाले लगाकर और पड़ोसी को चाभी देकर आता हूँ।"

"मैं अभी एक मिनट में आती हूँ," कहकर मल्लिका शयन-कक्ष में चली गई। शायद वह मेकअप को अंतिम रूप देने के लिए उधर चली गई थी।

मैं भी घर से बाहर निकलने से पहले तैयार होने चला गया। वर्मा जी खाने की मेज़ पर ही बैठे रहे और उस दिन का अखबार उलटते-पलटते रहे।

दो

मैं, वर्मा जी और मल्लिका जब घर से निकल रहे थे तो वर्मा जी ने मल्लिका का बना-संवरा स्वरूप एक क्षण निहारा और औघड़ ढंग से मुस्कराते हुए मल्लिका की ओर बढ़ गए। मैं और मल्लिका कुछ समझ पाते इससे पहले ही उन्होंने मल्लिका के हाथ से उसका पर्स ले लिया। पर्स खोलकर उन्होंने उसमें से एक छोटा-सा गोल आईना निकाला। पर्स को इधर-उधर हिलाकर लिपस्टिक खींची और दोनों चीजें मल्लिका की ओर बढ़ाते हुए बोले, "अपना शहर तो एकदम छोटा है मगर तुम तो वहाँ भी होंठ रँगकर घर से बाहर निकलती हो। दिल्ली जाते वक्त होंठों पर रंग फेरना कैसे भूल गई देवी जी। लगता है होंठ रँगते हुए झिझक रही हो। महानगर में ऐसे ही चली जाओगी तो लोग देखकर क्या सोचेंगे। कहीं तुम्हें एकदम भुच्च देहाती न समझ लें।"

वर्मा जी की व्यंगोक्ति सुनकर मैं बुरी तरह घबरा उठा। मुझे लगने लगा अब कोई अप्रिय दृश्य सामने आने ही वाला है। यह तो स्पष्ट ही था कि वर्मा जी ने मल्लिका के सामने कोई सहज प्रस्ताव नहीं रखा था। वह उनके मन में समाई हुई ऐंठन की ही अभिव्यक्ति थी। मैं सोच रहा था कि अब मल्लिका आईने और लिपस्टिक को उनके ऊपर फेंकने वाली है पर मल्लिका ने वैसा नहीं किया। उसने दोनों चीजें हाथ में लीं और बाथरूम की तरफ चली गई।

मल्लिका जब अपने होंठों पर लिपस्टिक लगाकर लौटी तो मुझे अपने मन में राहत की अनुभूति हुई। चलो तूफान टल गया। ईश्वर ने उसे सद्‌बुद्धि दी कि उसने अपने पति की कटूक्ति का जवाब देने के लिए आवेश की भाषा का इस्तेमाल नहीं किया।

मैंने उसकी ओर देखकर ताली बजाई और बोला, "वैलडन। यह अच्छे-भले पतियों का पुनीत कर्तव्य हो जाता है कि वह अपनी पत्नियों की

सौन्दर्य वृद्धि का समुचित ध्यान रखें और ऐसे पति तो परम प्रशंसनीय हैं जो प्रसाधन के उपकरण स्वयं अपने हाथों से पत्नी के हाथों में सौंप दें।"

मल्लिका मेरी बात पर कटाक्ष करते हुए बोली, "तब आप अब तक इस सम्मोहनकारी अनुभव से बचते हुए क्यों घूम रहे हैं? क्या अभी तक कोई ऐसा अवसर नहीं आया कि किसी को लिपस्टिक और शीशा दिखा सकते?"

"दिखाने से तो आफत खड़ी हो सकती है। पता नहीं वह क्या समझे जिसे शीशा दिखाया जाएगा। हो सकता है चप्पलों के इस्तेमाल का यही सही अवसर लगे उसे।"

मेरी बात पर मल्लिका ठठाकर मल्लिका हँस पड़ी और बोली, "दिखाने को तो छोड़ा भी जा सकता है मगर पेश करने में तो शायद वैसी दिक्कत न हो।"

मैंने भी विनोद बरकरार रखते हुए कहा, "इसे तो आप ही तय कर सकती हैं कि आप लोग किस बात से नाराज या प्रसन्न हो सकती हैं।"

"अनुभव बटोरने में तो जोखिम उठानी ही पड़ती है। लेकिन क्या यहीं खड़े होकर बातें करते रहेंगे हम लोग।" मल्लिका ने मुझे चलने की याद दिलाई।

"अरे हम लोग तो दरवाजे पर ही ठहरकर खड़े हो गए। चलो चलते हैं अब, ट्रेन का टाइम भी हो रहा है।" कहते हुए दरवाज़े का ताला बन्द किया ओर पड़ोसी के नौकर को आवाज़ लगाकर चाभी सौंप दी।

रास्ते में कोई रिक्शा दिखाई नहीं पड़ा तो हम तीनों ने मुख्य सड़क पर पैदल चलने का ही फैसला किया। मेरे एक तरफ वर्मा जी चुपचाप चल रहे थे और दूसरी ओर मल्लिका ने मुस्कराकर पूछा, "आप अकेले अब तक कैसे हैं? जब पाँच साल पहले दिवाकर जी की शादी में आए थे तब भी ऐसे ही थे। मैं तो सोचती थी कि अगले कुछ महीनों में ही आप फिर बरेली पहुँचेंगे और घर बसाने का पूरा साज-सामान सहेज़कर घर लौटेंगे।"

मैंने कहा, "आप उस तरफ कुछ जोर लगातीं तो शायद यह खुश-किस्मती मेरे हिस्से में भी आ जाती पर आपने तो उधर से आँखें ही बन्द कर लीं। उसके बाद मेरा तो बरेली जाना ही नहीं हुआ। आपने भी क

आने का निमंत्रण नहीं दिया।"

मल्लिका बोली, "मैं भी बरेली में उसके बाद कितने दिन रह पाई। छः महीने बाद ही पैरों में यह बेड़ियाँ पड़ गईं। तब से एम० पी० के कस्बे में सड़ रही हूँ। कहने को तो जिला है पर बरेली के मोहल्ले से ज्यादा बड़ा नहीं है।"

"चलिए छोड़िए बरेली का मोह। जहाँ हो वहाँ भी मेरे लिए कोई चांस नहीं बनता क्या?" मैंने अपने चेहरे पर कृत्रिम विवशता लाकर पूछा।

मल्लिका विरक्ति प्रकट करके बोली, "छोड़िए उस चक्कर को। कम से कम कोई खिट-खिटबाजी तो नहीं है आपके साथ। आराम से रहते हैं —नौकर दोनों वक्त का खाना बना देता है, घर की देखभाल कर लेता है। चैन की नींद तो सोते हैं कम से कम। मैं तो घरवालों की जबरदस्ती से इस जंजाल में जा फँसी। जब तक यह चक्कर नहीं था अपनी नींद सोती-जागती थी। क्या रखा है ऐसी गृहस्थी में जिसमें आदमी जिन्दगी को तरीके से जी भी न सके।"

यह कहकर मल्लिका ने एक तीखी नजर वर्मा जी के चेहरे पर डाली। वह न जाने किन ख्यालों में डूबे चल रहे थे। शायद उन्होंने मल्लिका का आरोप सुना ही नहीं था या फिर उन्होंने जान-बूझकर उसे अनदेखा किया था।

मैंने स्थिति को बिगड़ने से बचाकर रखने के लिए परिहास का स्वर बनाए रखा, "कभी-कभी मेरी बड़ी इच्छा होती है कि इस जीवन को एक बार तो जीकर देख ही डालूँ फिर जो हो सो हो। प्राण प्रिया से कलह में भी कुछ इतनी सरसता होती होगी कि उस अनुभव को स्थगित करना अपने साथ सरासर ज्यादती है।" मल्लिका मेरे व्याज से अपने पति को और भी न जाने क्या कुछ कह सकती थी पर उसने कुछ भी न कहकर ध्यान से मेरा चेहरा देखा और यह जानने की कोशिश की, मैं अपने द्वारा बोले गए शब्दों के प्रति कितना गम्भीर हूँ। शायद मेरी बात के प्रति उसके मन में कुछ संशय पैदा हुआ। वह सन्देहात्मक रुख अख्तियार करके बोली, "आप मुझे बनाने की कोशिश कर रहे हैं। अगर आप चाहते तो अब तक एक

छोड़ दस शादी कर सकते थे। परिवार चलाने के लिए सारा कुछ आपको प्राप्त है। आपके पास घर है, नौकरी है, नौकर हैं, प्रतिष्ठा है। ऐसी कोई भी तो कमी नहीं दीख पड़ती जो अच्छी खासी गृहस्थी बसाने में आड़ी आए। कोई भी लड़की आपसे शादी करके स्वयं को भाग्यशालिनी ही मानेगी।"

मैंने "बस-बस इतना न फुलाइए इस नाचीज़ गुब्बारे को वर्ना यह घमण्ड का पिन चुभाते ही फट जाएगा" कहकर उसे चुप करने की कोशिश की।

पर वह मेरे यह कहने के बावजूद बोलती चली गई, "पता नहीं दुनिया में यह क्या अँधेरगर्दी है कि जिनके पास जो चीजें बिना किसी कोशिश के पहुँचनी चाहिए वह रास्ते में कहाँ भटक जाती हैं जबकि अयोग्य और निकम्मे उन पर अपनी इजारेदारी जमाकर बैठ जाते हैं।"

पता नहीं उसका आक्रोश कहाँ जाकर रुकने वाला था। वह अपने भीतर कोई काँटा, कोई कुण्ठा बुरी तरह महसूस कर रही थी और उसे निकालने का उपाय तलाश कर रही थी। हो सकता है उसका पति ही उसकी चुभन का कारण हो। या फिर कोई दूसरी अनुपलब्धि उसे तंग कर रही हो। मैंने मल्लिका का रुख दूसरी ओर मोड़ने की कोशिश की, "अरे हम घर से कितनी दूर आ पहुँचे। इसी तरह पैदल चलते गए तो हम लोग स्टेशन क्या दिल्ली तक भी मज़े में जा पहुँचेंगे।

मैंने सड़क से गुजरते दो रिक्शा चालकों को आवाज़ देकर बुलवाया। जब रिक्शे आ गए तो मैंने उससे रिक्शे में बैठने को कहा। वह इसरार करने लगी, "पहले आप तो बैठिए।"

मैंने वर्मा जी से कहा, "आइए-आइए वर्मा जी, रिक्शे में आ जाइए। बहुत पैदल चल चुके आप तो। अब तक तो आपके पाँव दुखने लगे होंगे।"

"अजी मेरे पैर इतने जल्दी दुखने वाले नहीं हैं। मैं तो गाँव, देहात का ठहरा। कोई कमसिन और नाजुक तो हूँ नहीं कि चार कदम चलते ही थक जाऊँ।" यह कहकर उन्होंने अपनी पत्नी की ओर तीखी नज़र से देखा।

उनकी बात का मल्लिका पर तुरन्त प्रभाव हुआ। वह रिक्शेवाले से बोली, "जाओ भई, हमें तुम्हारी कोई जरूरत नहीं है।" फिर मेरी ओर

मुड़कर पूछने लगी, "अभी स्टेशन कितनी दूर रह गया है प्रभाकर जी? बातें करते-करते थोड़ी देर में पहुँच ही जाएँगे। ऐसी भी क्या जल्दी है।"

मैंने रिक्शा चालकों को जबरन रोककर कहा, "यह आप क्या कर रही हैं—इसी तरह रेंगते हुए चलेंगे तो पहुँच चुके दिल्ली।"

मेरे आग्रह पर वह रिक्शे पर सवार हो गई। मैंने वर्मा जी को उसके पास बैठने को कहकर दूसरा रिक्शा पकड़ा और रिक्शा चालक से बोला, "फटाफट स्टेशन ले चलो, गाड़ी का टाइम हो रहा है।"

मैंने पीछे मुड़कर देखा, अभी तक वर्मा जी रिक्शे में सवार नहीं हुए थे। शायद भीतर की कुण्ठा अथवा आक्रोश उन्हें मल्लिका की बगल में बैठने से रोक रहा था। मैंने पीछे मुँह करके कहा, "वर्मा जी जल्दी से रिक्शे पर बैठिए नहीं तो हम लोगों की गाड़ी छूट जाएगी।"

खैर वे किसी तरह मल्लिका के बगल में बैठ गए और उनका रिक्शा भी चल पड़ा। मैं उन दोनों के बीच उभरते तनाव को दूर करने का उपाय सोचता रहा। दोनों बाहर से पत्थर की तरह सख्त और ठण्डे हो गए थे मगर उनका टकराव कांच के टकराने जैसा था। जिसका परिणाम किरच-किरच होकर बिखरने की स्थिति में जा पहुँचा था। मुझे वह तल-वारों की तरह तने हुए लग रहे थे और मेरे लिए उन दोनों का पति-पत्नी स्वरूप एक विडम्बना जैसा ही था। मैं पूरी तरह समझ चुका था कि वह परस्पर एक दूसरे से कोई संवाद करने की स्थिति में नहीं थे। उन दोनों के बीच किसी तीसरे व्यक्ति का बने रहना आवश्यक था। पर वह तीसरा व्यक्ति उनकी असहजता बरदाश्त करते-करते बेदम हो जाने वाला था और शायद उन दोनों को इस बात का कोई ख्याल नहीं था। यह कैसी अजीब स्थिति थी कि पत्नी उमंग भरी जिन्दगी जीने को बेचैन थी और पति में उस तरह की कोई झलक ही नहीं थी। यह एक विपरीत परिस्थिति थी जिसका मैं अनजाने में ही साक्षी बन गया था।

कुछ बरस पहले मैं बरेली अपने एक मित्र के विवाह में गया था और वहाँ जिन चुलबुली और शोख लड़कियों ने दूल्हे को तरह-तरह से बनाने की कोशिश की थी उनकी सरगना यह मल्लिका ही थी। वहीं उससे जान-पहचान हुई थी और उसने मेरी रचनाओं को ही नहीं पढ़ा था बल्कि उसे

मेरा पता भी पूरी तरह याद था। मैंने बातों-बातों में उसे अपने यहाँ आने का आमंत्रण दे दिया था। उसने बाद में भी पत्राचार जारी रखा था और विवाह हो जाने पर मध्यप्रदेश के बैतूल शहर में चली गई थी। जहाँ उसके पति ठेकेदार करते थे। वह दूर-दराज़ देहात में रहकर जंगलात के ठेके लेते थे और मल्लिका बैतूल की एक कन्याशाला में प्रवक्ता के पद पर कार्य करती थी। विवाह हुए कई मास बीत चुके थे, अभी तक वर्मा दम्पति को संतान की प्राप्ति नहीं हुई थी। मुझे यह सोचकर परम आश्चर्य होता था कि मल्लिका जैसी पढ़ी-लिखी आधुनिका ने वर्मा जी जैसे संस्कारहीन व्यक्ति से क्या सोच कर शादी की थी। मैं मल्लिका के माता-पिता की परिस्थितियों से एकदम अपरिचित था। इसलिए यह नहीं जानता था कि उन्होंने मल्लिका का विवाह वर्मा जी के साथ किन विवशताओं की वजह से किया था। इस प्रकार के अनमेल विवाह की परिणति सुखद तो किसी भी हालत में होने वाली नहीं थी क्योंकि मानसिकता की विपरीत दिशाएँ उन्हें किसी एक बिन्दु पर एक-रूप होने का अवसर देने वाली नहीं थीं।

हम लोग स्टेशन पर पहुँचे तो गाड़ी चलने ही वाली थी। मैंने किसी तरह भाग-दौड़ करके टिकट खरीदे और रेलवे पुल पार करके उन दोनों के साथ प्लेटफार्म पर पहुँच गया। हम लोगों ने अभी गाड़ी में पाँव रखे ही थे कि गाड़ी चल पड़ी। जिस डिब्बे में हम लोग सवार हुए उसमें अधिकांश सीटें खाली ही थीं। यह गाड़ी नई दिल्ली स्टेशन पर जाती थी और बीच के स्टेशनों पर भी ठहरती थी। हम लोग तिलक ब्रिज पर भी उतर सकते थे। हम तीनों एक खाली बर्थ पर जाकर बैठ गए तो वर्मा जी ने मुझसे पूछा, "क्या नई दिल्ली के लिए यही एक गाड़ी रवाना होती है इस स्टेशन से ?"

मैंने उन्हें बतलाया कि नई दिल्ली के लिए यहाँ से कुछ गाड़ियाँ बनकर चलती हैं जिन्हें शटिल ट्रेन कहा जाता है। इस तरह की तीन गाड़ियाँ दिन भर में यहीं से बनकर चलती हैं।

"यह तो बड़ी अच्छी बात है। यह गाड़ी निकल भी जाती तो अगली से जाया जा सकता था।" वर्मा जी ने गाड़ी के लिए की गई भाग-दौड़ की व्यर्थता की ओर संकेत करते हुए कहा। "मगर इसके बाद जो गाड़ी ज

है वह तीन-साढ़े तीन बजे नई दिल्ली पहुँचती है और उससे जाने का मतलब होता कि हम सिर्फ कनाट प्लेस तक जाकर लौट आते।'' मैंने वर्मा जी को वतलाया।

"हमारे लिए कनाट प्लेस को छू कर लौट आना भी ऐसा ही है जैसे विदेश घूम आए हों।" वर्मा जी ने अपनी मूँछों पर उँगलियाँ घुमाते हुए कहा।

मैंने उत्साह प्रदर्शित किया, "नहीं, नहीं, आप ऐसा क्यों सोचते हैं। जब आप यहाँ तक आ ही गए हैं तो दिल्ली में थोड़ा बहुत घूम-फिरकर जरूर ही देखें। आप तो दिल्ली आते ही कम होंगे। कम से कम यहाँ तक आना तो सार्थक करें।"

वर्मा जी थोड़े सहज होते नजर आए। उनके चेहरे का तनाव कुछ ढीला पड़ा और उन्होंने कहना शुरू किया, "प्रभाकर जी मैं इस शहर में आया ही कहाँ हूँ। कभी वरसों पहले जब एक कम्पनी में सेल्स का काम करता था तो मालिकों के काम से इधर आया था। अब तो उस जमाने की कोई याद भी नहीं है। उस जमाने में तो यहाँ ट्रामें चलती थीं। पुरानी दिल्ली में ही काम था और मैं तो वहीं से काम निपटाकर लौट जाता था। मैं तो भीड़-भाड़ से दो ही दिन में तंग आ गया था। अब तो आजादी के बाद दिल्ली पूरी तरह फैल गई है। न जाने कहाँ तक जा पहुँची होगी। वस यहाँ तो यह है कि चलते ही चले जाओ। मेरा तो ऐसे शहर में दम घुटने लगता है भाई साहब।"

"हाँ यह तो है। आजादी के वाद जो लोग पंजाब से उखड़कर आए थे उनकी वजह से दिल्ली शहर बुरी तरह फैल गया है और दिनोंदिन वढ़ता ही चला जा रहा है। पता नहीं इसकी सीमाएँ कहाँ जाकर रुकेंगी।"

"अजी शहर क्या बढ़ रहे हैं—वस गाँव देहातों को लीलते चले जा रहे हैं। हमें तो अपना एम० पी० (मध्य प्रदेश) ही ठीक लगता है जहाँ किसी किस्म की भीड़-भाड़ है न अफरा-तफरी। दिल्ली की तो बात ही अलग है, अब तो उत्तर प्रदेश के शहरों का भी बुरा हाल है। हर शहर मसक की तरह फूलता ही चला जा रहा है।" इसके बाद वर्मा जी ने मल्लिका की ओर संकेत करके कहा, "इनके शहर बरेली को ही लीजिए मार भीड़ ही

भीड़ बढ़ती चली जा रही है। पता नहीं यह सिलसिला कहाँ जाकर दम लेगा।" यह दिनोंदिन बेपनाह जनसंख्या का अभिशाप है। सरकार भी इस दिशा में पूर्ण निष्क्रिय साबित हो रही है। यह काम जोर-जबरदस्ती से तो किया नहीं जा सकता। जब तक इसके पीछे कोई साफ दृष्टि और समझ न हो लोग जनसंख्या पर नियंत्रण करने का रास्ता अपना ही नहीं सकते।"

मेरी यह बात सुनकर वर्मा जी मुस्कराए और बोले, "जहाँ तक हमारा सवाल है हमने तो इस तरफ सरकार को पूरा सहयोग दिया है। राष्ट्रीय महत्व के प्रश्न को हमने पूरी निष्ठा से हल करने की कोशिश की है।"

मैंने उनकी बात पर सिर हिलाकर हामी भरी मगर तभी मेरी दृष्टि मल्लिका के चेहरे पर चली गई। उसका मुँह तमतमाया हुआ था और वह कुछ कहने को आकुल नज़र आ रही थी मगर न जाने किस संकोच के कारण कुछ भी कह नहीं पा रही थी। हो सकता है वह वर्मा जी के इस दृष्टिकोण से सहमत नहीं थी कि घर में एक भी सन्तान न हो या हो सकता है इसका कोई और ही कारण रहा हो।

मैंने बात बदलते हुए कहा, "हम तो अभी इस घर-गृहस्थी के झंझट से बरी हैं—जब कभी ईश्वर ने हमारी सुधि ली तो कुछ सोचेंगे।"

मल्लिका का चेहरा मेरी बात से बदल गया और वह बोली, "आप ऊपर ही ऊपर से यह बात कह रहे हैं।" अगर आप गम्भीरता से घर बसाने की सोचते हो तो मैं एक लड़की आपको सजेस्ट कर सकती हूँ।"

"ठीक है बात पक्की रही। आप हमारे लिए कोशिश कीजिए। शायद कहीं लिफ्ट मिल जाए।"

"इसमें क्या मुश्किल है," कहकर मल्लिका ने अपना पर्स खोलकर भीतर की एक तह से पासपोर्ट साइज का फोटो निकालकर मेरे हाथ में थमाते हुए कहा, "यह मेरी सहेली वरुणा कश्यप है। मेरे ही कालिज में इंगलिश की लेक्चरर है। इससे सुन्दर, कमाऊ और सुशील लड़की आपको ढूंढे नहीं मिलेगी कहीं।"

मैंने उत्साह प्रदर्शित किया, "बस तो मार लिया मैदान। मेरा सौभाग्य तो घर बैठे यहीं आ पहुँचा।"

मैंने मल्लिका का दिया हुआ फोटो देखा। लड़की वास्तव में सुन्दर

थी । मैंने मल्लिका से मजाक में पूछा, "क्या आपकी फ्रैंड फोटो जैसी ही सुन्दर है। फोटो में तो लड़कियाँ प्रायः सुन्दर लगती हैं। इसमें फोटोग्राफर महाशय का कमाल भी कुछ कम नहीं होता है ।"

मल्लिका उतावली दिखाते हुए बोली, "नहीं, नहीं, यह फोटो जरा भी टच नहीं किया गया है। वरुणा फोटो से भी ज्यादा सुन्दर है।" और वह अपने पति के प्रति सुबह से अपनाया हुआ उपेक्षा का भाव एक तरफ करके उत्सुकता से पूछने लगी, "आप ही बताइए इन्हें, वरुणा कितनी सुन्दर और सुशील है।"

मैं इस प्रसंग को आगे नहीं बढ़ाना चाहता था और शायद वर्मा जी की भी इस सम्बन्ध में कोई खास दिलचस्पी नहीं थी। वह बोले, "महाशय आपका व्रत भंग करने के लिए जब कोई वरुणा, करुणा या कोई और कन्या अवतरित हो ही गई है तो उससे आपको आसानी से छुटकारा मिलने वाला नहीं है। हमारी श्रीमती जी वरुणा और आपका गठबन्धन कराने पर तुल ही गई हैं तो मैं क्या कह सकता हूँ ? क्या आप नहीं जानते शादी शुदा औरत क्या चीज होती है ? वह किसी भी पुरुष को स्वतंत्र छोड़कर उसे सुख की नींद नहीं सोने देना चाहती ।"

इसी समय मिंटो ब्रिज का स्टेशन आ गया। मैंने मल्लिका और वर्माजी से कहा, "उठिए, उठिए, जरा जल्दी करनी पड़ेगी। इस स्टेशन पर गाड़ी बहुत कम समय ठहरती है।" और प्लेटफार्म पर पहुँचकर मैं मल्लिका से बोला, "मल्लिका जी, आपने मेरा कल्याण करने का बीड़ा उठा ही लिया है तो मैं भी पीछे नहीं रहूँगा। ठीक है लौटने के बाद इस विषय पर विस्तार से चर्चा होगी।"

तीन

मिंटों ब्रिज स्टेशन से बाहर निकलकर हम तीनों शंकर मार्केट होते हुए सुपर बाजार के सामने जा पहुँचे। मैंने सोचा इन लोगों को बस के भम्भड़ से बचाकर टैक्सी में ही ले चलूं तो शायद वर्मा जी को तसल्ली हो जाए क्योंकि वह शोर-शराबे और भीड़ से पूरी तरह भड़के हुए थे मगर उसी समय इंडिया गेट की ओर जानेवाली एक बस सामने ठहरती नज़र आई। बस में सीटें भी खाली थीं। मैंने वर्मा जी से कहा, "बस में कोई ज्यादा भीड़भाड़ नहीं है—अगर आप कहें तो इसी बस में सवार हो लें।"

वर्मा जी ने मल्लिका की ओर देखकर कहा, "हां-हां चलिये बड़े नगरों में तो सिटी बस से ही यात्रा करने का आम रिवाज है—फिर यहाँ दूसरा चारा भी क्या है ?"

"चारा तो खूब है। हम लोग टैक्सी से भी चल सकते हैं। थोड़ा और आगे बढ़ें तो टैक्सी या स्कूटर भी मिल जाएँगे।" मैंने उन्हें विकल्प सुझा दिया। पर मल्लिका बस की ओर लपकते हुए बोली, "छोड़िये ये टैक्सी-वैक्सी का चक्कर। जहाँ सामने से अच्छी-खासी बस उधर ही जा रही है तो खामखा पैसे बर्बाद करने से क्या फायदा।"

मल्लिका के पीछे मैं और वर्मा जी बस में सवार हो गये। मल्लिका तो महिला सीट पर एक औरत के साथ जाकर बैठ गई। मैं और वर्मा जी एक सीट पर अगल-बगल जा बैठे। वर्मा जी को मैं बीच-बीच में पड़ने वाली इमारतों तथा सड़कों के नाम बतलाता जा रहा था। अगर मल्लिका हमसे अगली वाली सीट पर बैठ गई होती तो मैं उसे भी आस-पास की इमारतों के बारे में कुछ बतलाता। वह बदस्तूर पीछे मुड़-मुड़कर देखती चली जा रही थी, मगर संकोच की वजह से अपनी सीट छोड़कर हमारे पास वाली खाली सीट पर नहीं आ पा रही थी। दिल्ली या दूसरे महानगरों से दूर रहने वाले लोगों में यह संकोच बराबर बना रहता है कि सीट बदलने पर न

जाने लोग क्या कहेंगे—पर इस तरफ देखने की फुर्सत ही किसे होती है।

खिड़की से लगे बैठे वर्मा जी इस समय बहुत सहज दिखलाई पड़ रहे थे। उनकी आँखों में बच्चों जैसी उत्सुकता थी। उनके चेहरे पर उभरती सरलता को देखकर इस क्षण कोई सोच भी नहीं सकता था कि यह शख्स सुबह से ही अनमना और महाबोर बना हुआ था। इसकी चिड़चिड़ाहट ने उसे पूरी तरह मनहूस करार दे रखा था। आदमी को वातावरण और उसके अप्रिय प्रसंग कभी-कभी इतना दूसरा बना देते हैं कि उसके भीतर छिपे असली मनुष्य का कहीं पता ही नहीं चल पाता। थोड़ी सहजता और माहौल की जिन्दादिली सबको सुकून देती है और वह सहन करने के काबिल बन जाते हैं।

बस इंडिया गेट से कुछ इधर ही ठहरी तो मैंने मल्लिका को सुनाते हुए कहा, "क्या बोटिंग करने का इरादा है। सामने ही बोट क्लब है।"

वर्मा जी चौंककर बोले, "कहाँ यहाँ कोई नदी-वदी तो नजर आती नहीं है?" मैंने हँसकर कहा, "अभी आप देखेंगे कि यहाँ दिल्ली में बगैर नदी के भी नावें चलती हैं।" मल्लिका ने मेरी बात सुन ली थी। वह अपनी सीट छोड़कर उठी और मेरे नज़दीक पहुँचकर पूछने लगी, "कहाँ है बोटिंग का इन्तज़ाम, चलिये-चलिये बड़ा मजा आएगा।" मैं उठकर खड़ा होते हुए बोला, "वर्मा जी जल्दी कीजिए जरा, यहाँ बस ज्यादा देर तक नहीं रुकेगी।"

वर्मा जी जो खिड़की से लगे बैठे थे और इधर-उधर की इमारतों को देखने में मगन थे, अनिच्छा से उठते हुए बड़बड़ाए, "नावों का क्या है, उन्हें तो आप कागज़ों पर भी चला सकते हैं। सारी सरकारी नावें कागज़ पर ही तो चलती हैं।"

हम लोग बस से नीचे उतरकर खड़े हुए तो मैंने कहा, "आपको तो इन नावों की वास्तविकता का मुझसे कहीं ज्यादा ज्ञान है क्योंकि ठेकेदारों से ज्यादा इनकी सच्चाई और कौन जान सकता है। पर अब जो नावें मैं आपको बताने जा रहा हूँ वह चप्पू चलाकर सचमुच में पानी पर चलती हैं। यह अलग बात है कि नावों का स्वरूप और आकार क्या है और पानी की गहराई कितनी है?"

"चलिए आज तो आप जो भी दिखलाएँगे देखना ही पड़ेगा। आप ठहरे हमारे फ्रैंड—फिलासफर गाइड।"

मैंने उन्हें कृषि-भवन के पास वाला स्थान दिखलाया और संकेत से पानी पर तैरती नावें देखने को कहा। मेरे संकेत का उनकी दृष्टि ने अनुसरण किया और मेरे साथ चलते हुए बोले, "यहाँ के लोगों की भी इच्छा नाव खेने की तो होती है मगर बेचारों को उथले पानी में छटंकी भर की नाव लेकर मन की भूख मिटानी पड़ती है। यही तो हमारे महानगरों की सभ्यता का अभिशाप है।"

चलते-चलते हम लोग उस जगह जा पहुँचे जहाँ बहुत से लोग छोटी-छोटी डोंगियाँ लेकर पानी में उतर रहे थे—कुछ पहले से ही चप्पू चलाकर उन्हें खे रहे थे। मैंने भी एक डोंगी ली और दो चप्पू लेकर डोंगी को पानी में उतार दिया। मैं, मल्लिका और वर्मा जी डोंगी पर सवार हो गए। मैंने एक चप्पू वर्मा जी के हाथ में दिया और दूसरा स्वयं चलाने लगा। वर्मा जी ने कौतुक के भाव से चप्पू हाथ से पकड़ा और उसे इधर-उधर घुमाकर बोले, "यह तो छड़ी जितना भी वजनी नहीं लगता।"

मैं उनकी बात पर हँस पड़ा और बोला—"चप्पू भी नाव के हिसाब से ही बनाए गए हैं वर्मा जी। फिर इन चप्पूओं को चलाने वाले हाथ भी तो मल्लाहों के नहीं हैं। कलम पकड़ने वाले बाबुओं और उनकी नाजुक बीवियों से क्या आप यह उम्मीद करते हैं कि वह मन-मन भर के चप्पू हाथ में उठाकर नाव चलाएँ।"

वर्मा जी ने चप्पू पानी में नहीं डाला और नाव का डगमगाना देखते रहे। फिर विरक्ति दिखाते हुए बोले, "भई हमसे तो यह खिलवाड़ नहीं चल पाएगा।" उन्होंने चप्पू एक तरफ रखकर कहा, "आपको नाव में बैठने का इतना ही शौक है तो कभी उधर मध्यप्रदेश में आइये—चारों तरफ नदियों का जाल बिछा हुआ है। आपको बरमानघाट ले चलेंगे, भेड़ा घाट ले चलेंगे। वहाँ चलकर असल की नावें देख लीजिएगा और नाव खेने का ही शौक है तो खूब जी भरकर चप्पू चलाइएगा। यह क्या बच्चों का खिलवाड़ कर रहे हैं। यह नाव खेना तो दीवारों पर हरियाली उगाने जैसा है।"

मल्लिका ने उस चप्पू को हाथों में उठा लिया जिसे वर्मा जी

तरफ रख दिया था। मैंने ठहाका लगाकर कहा—"कोई बात नहीं वर्मा जी, आप मज़े में नाव की सैर करते चलिए, मल्लिका जी अपनी शूरवीरता दिखाएँगी अब। जिन्दगी की नाव के चप्पू भी बारी-बारी से पति-पत्नी को चलाने ही पड़ते हैं।"

लेकिन वर्मा जी के चेहरे पर वही सुबह वाला विरक्ति भरा दार्शनिक भाव उतर आया और वह बनावटी सभ्यता और छिछले मनोरंजनों पर लानतें भेजने लगे। मैंने और मल्लिका ने उनकी बातों का कोई नोटिस नहीं लिया तो वह जोर से बोले, "क्षमा कीजिए भाई साहब, मुझे इस तरह की बनावटी पोखरी में नाव में बैठना बहुत हास्यास्पद लग रहा है।"

मैंने विनम्रता से कहा, "वह तो मैं समझ ही रहा हूँ। पर इसे हम लोगों की वजह से ही सहन कर लीजिए।" साथ ही मैंने मज़ाक में यह भी कहा, "आप जैसे धर्मात्मा-पुण्यात्मा की वजह से ही तो यह नाव बची हुई है वर्ना अब तक तो हम लोग डुबकियाँ खाते पानी में डूब जाते।"

मेरे परिहास का भी उन पर कोई असर नहीं पड़ा। वे हठपूर्वक बोले, "प्रभाकर जी, मुझ पर एक मेहरबानी कीजिए। मुझे तो आप किनारे पर उतार दीजिए। इस बचकानेपन से तो यही अच्छी है कि मैं किनारे के लान पर हरी घास में ही बैठ जाऊँ। इस अनोखे नौका विहार का आनन्द आप दोनों ही लीजिए।"

लेकिन मैंने इतने पर भी यह आशा नहीं छोड़ी कि वर्मा जी नाव से बाहर चले जाएँ। अपने चेहरे पर कृत्रिम व्यस्तता का भाव लाकर बोला, "अरे! आप कहाँ भागने की सोच रहे हैं वर्मा जी। हमारी नाव डग-मग कर टेढ़ी हुई जा रही है और एक आप हैं कि तूफान में साथ छोड़कर खिसक जाना चाहते हैं।"

पानी की कमी की वजह से बोट आगे नहीं बढ़ पा रही थी। वह आगे बढ़ने की बजाय टेढ़ी-तिरछी होकर किनारे से जा लगी। वर्मा जी नाव से कूदकर किनारे पर जा पहुँचे। मैंने सोचा शायद मल्लिका भी यही कुछ करेगी, पर वह अपनी जगह से हिली भी नहीं। उसके हाथ में चप्पू था और वह नाव को फिर से पानी में धकेलने की प्रतीक्षा कर रही थी।"

मैं एक मिनट तक यह तय नहीं कर पाया कि ऐसी विषम परिस्थिति

में क्या करूँ ? जबकि पति पत्नी को नाव में छोड़कर किनारे पर छलांग लगा गया हो । मेरे सामने एक ही विकल्प था कि मैं भी नाव छोड़ दूं और मल्लिका से कहूँ कि चलो छोड़ो नौका-विहार, किसी अन्य दर्शनीय स्थल पर चलते हैं। पर उसे नाव में इत्मीनान से बैठे देखकर मैं यह नहीं कह सका। मैंने चप्पू चलाकर किनारे से नाव को हटाया और फिर बीच में ले गया।

मल्लिका अपने पति की उदासीनता से कतई प्रभावित नहीं लग रही थी वलिक वह वहुत जीवन्त और पुलकित दिखलाई पड़ रही थी। मल्लिका के सम्पूर्ण व्यक्तित्व पर एक उत्साह उमड़ता नजर आ रहा था। यह एक अनोखा विरोधाभास था। जबकि होना तो यह चाहिए था कि वर्मा जी को उदासीन देखकर वह भी नौका-विहार से विरक्त हो जाती और किनारे पर जाकर पति को सामान्य बनाने की कोशिश करती।

मैंने उससे कहा, "लगता है वर्मा जी को यहाँ आना पसन्द नहीं आया।" उन्हें क्या पसन्द आ सकता है इसका पता मैं और आप तो क्या भगवान भी नहीं लगा सकता।" कहकर उसने अनाड़ीपन से डाँड़ चलाना शुरू कर दिया। उसके चेहरे पर उल्लास उमड़ा पड़ता था। यौवन जब सारे बन्धनों को तोड़कर उद्दाम हो जाता है तो उसका रंग ही कुछ और हो जाता है। वह एक गुनगुनाती नदी का रूप धारण कर लेता है जिसकी गहराई में डूबा भी जा सकता है। जिसके उच्छल प्रवाह में खुलकर तैरा भी जा सकता है। किसी भी प्रकार की वर्जना यौवन को और भी उन्मुक्त, स्वच्छन्द और बाढ़ पर आई नदी का रूप दे देती है।

मैंने देखा, मल्लिका अपनी अनभ्यस्त गोल कलाइयों को घुमा-घुमाकर इधर-उधर चप्पू मार रही थी। जिसकी वजह से पानी उछल-उछलकर उसकी साड़ी भिगो रहा था। मल्लिका जोगिया रंग की सिल्कन साड़ी पहने थी। उसी रंग की विन्दी उसके माथे पर लगी थी। अपने गोरे निखरे रंग के अनुरूप लिबास पहनने की उसको अच्छी समझ थी। भले ही वह किसी कस्वानुमा शहर में पड़ी थी मगर जीने के प्रति उसका लगाव कम नहीं था वलिक कहना चाहिए महानगर की मारक परिस्थितियों में टूट-विखर जाने वाली कामकाजी महिलाओं से कहीं ज्यादा था। हरे काँच की चूड़ियाँ उसकी कलाइयों को काफी ऊपर तक घेरे हुए थीं, चप्पू चलाने की

ऊपर-नीचे हो रही थीं। नाव जब टेढ़ी होकर इधर-उधर डगमगाने लगती थी तो मल्लिका भयभीत होने का नाटक करने लगती थी।

मल्लिका को कौतुक भाव से खिलवाड़ करते देखकर मैंने उसको वर्मा जी के अकेले घास में लेटे होने की बात नहीं कही वल्कि उन दोनों के बीच बढ़ती दूरी का ख्याल करके सिहर उठा। इस बेचारी को क्या पता कि उसका पति लान में अकेला लेटा कुढ़ रहा है या फिर वह इस बात को जानकर भी अनदेखा कर रही थी।

मैंने मल्लिका के चेहरे से अपनी दृष्टि हटाकर लान पर लेटे वर्मा जी को देखा। वह हम दोनों की ओर से पीठ फेरकर लेटे थे। मैं और मल्लिका डांड़ खेते-खाते नौका को काफी आगे तक वढ़ा ले गए।

मैंने उसे याद दिलाना चाहा कि अब काफी देर हो गई है और हमें और कई स्थानों पर भी जाना है। इसी समय उसने तावड़तोड़ चप्पू चलाकर उछलते पानी को एक तरह से मुझ पर उलीच ही दिया—"अरे-अरे! यह क्या करने लगीं आप? विना मौसम की होली कर डाली आपने!" कहकर मैंने वचने की कोशिश की।

"होली का कोई मौसम नहीं होता प्रभाकर जी। जो जब चाहे दिवाली मना सकता है। होली कर सकता है, अपने ऊपर वसन्त ला सकता है। ये न किसी मौसम के इन्तजार में रहते हैं, न किसी खास उम्र के। क्या प्रकृति में भी वसन्त एक साथ आता है। सारी जगहों पर अलग-अलग दिनों और महीनों में चलता रहता है। हम एक जगह के होकर क्यों रह जाएँ?"

"अरे आप तो अपने पति महाशय से भी चार कदम आगे हैं। मैं तो यही समझता था कि वहीं फिलासफी जानते और वोलते हैं मगर आपने तो हद ही कर दी। वसन्त और उल्लास की जो व्याख्या आपने की है वह तो वड़े-वड़े दार्शनिकों ने भी नहीं की होगी।"

"अच्छा इसे तो रहने ही दीजिए—मुझे वनाने की कोशिश मत कीजिए। अच्छे मल्लाह की तरह नाव आगे वढ़ाइए। मैं तो यहाँ आने से पहले यही सोचकर डर रही थी कि शायद पूरी दिल्ली में एक खुली जगह न हो जहाँ पानी, पेड़, पौधे घास वगैरह दिखाई दे सकें—पर यहां तो दूर-दूर तक हरियाली और खुलापन विखरा पड़ा है।" मैंने उससे पूछा, "क्या आप

दिल्ली में रहना पसन्द करेंगी।"

"क्यों नहीं, क्या दिल्ली में आदमी नहीं रहते हैं? आदमी के भीतर कहीं रहने की, एडजस्ट करने की इच्छा हो तो क्यों नहीं रह सकता?"

मैंने उसे वतलाना चाहा कि उसके पति तो यहाँ एक दिन भी नहीं रह सकते—उन्हें तो भागम-भाग और भीड़ से सख्त नफरत है लेकिन मैंने वर्मा जी की याद दिलाकर उसके उल्लास को नष्ट करने की कोशिश नहीं की। उसने ही वर्मा जी की ओर देखकर हँसते हुए कहा, "उधर तो देखिए जरा, मेरे पति कितने समझदार हैं। इस बच्चों वाली निरर्थक उछल-कूद से हरी घास पर लेटकर लम्बा-चौड़ा आसमान देखना कितना आह्लादकारी है?"

मुझे यह देखकर हार्दिक प्रसन्नता हुई कि मल्लिका ने वर्मा जी को लेकर कोई कटु व्यंग्य नहीं किया। वह सहज परिहास के स्वर में ही अपने पति की स्थिति का वर्णन कर रही थी।

मैंने मल्लिका से कहा, "अभी तक चप्पू चलाने से क्या मन नहीं भरा?"

"प्लीज थोड़ी देर और," कहकर वह पूर्ववत चप्पू घुमाती रही। मैंने देखा कि मल्लिका में वेजोड़ तल्लीनता का भाव था। वह जिस तरफ भी लगती थी परम एकाग्रता बनाए रखी थी। छोटे शहरों में रहने वाली औरतें अक्सर पतियों की पिछलग्गू बनकर उनकी आदतों और रुचियों की गुलाम वन जाती हैं। वह वही वात करना पसन्द करती हैं जो पति को पसन्द हों। अपना मिज़ाज और तेवर उनके पास कम ही सुरक्षित रह पाता है। इसका स्पष्ट कारण भी है कि जीवन में स्वतन्त्र ढंग से निर्णय लेने के अवसर वहाँ प्रायः होते ही नहीं हैं। जिन्दगी बहुत धीमी गति से चलती है और स्त्रियाँ जोखिम से बचकर सुरक्षित जीवन जीने की अभ्यस्त हो जाती हैं।

जब मैंने दूसरी बार आग्रह किया तो मल्लिका चलने को तैयार हो गई। मैंने घड़ी देखी, डेढ़ वज रहा था। वर्मा जी अभी तक लान की मख-मली घास पर पसरे पड़े थे।

चार

दोपहर की धूप में तेजी थी। डोंगियाँ छोड़कर अधिकांश नौका-विहार करने वाले लौट चुके थे। मल्लिका और मैं नाव से निकलकर सामने चाय की स्टाल पर जा पहुँचे। मैंने तीन प्याले चाय का आर्डर दिया और लान की घास पर लेटे वर्मा जी को बुलाने चला गया। वर्मा जी धूप में लेटे झपकी ले रहे थे। मैंने आवाज़ लगाई तो उठकर बैठ गए और अपनी घड़ी पर नज़र डालकर बोले, "अये, इतना वक्त गुज़र गया, इतनी देर तक आप लोग क्या कर रहे थे ?"

मैंने परिहास के स्वर में कहा, "समय गुज़र जाने का पता आपको तो घड़ी देखने पर ही चल रहा है। मज़े में दो घंटे सो लिए और वक्त के अह-सास से बच निकले। हमसे पूछिए जिन्होंने ठहरे हुए पानी में फिज़ूल में दो घंटे डांड़ चलाए और वहीं के वहीं रहे—कहीं भी पहुँचने की नौबत नहीं आई।"

वर्मा जी के मन में हास-परिहास के लिए शायद कोई जगह बाकी नहीं बची थी। वह आँखें मिचमिचाकर खीझ के स्वर में बोले, "कुछ लोगों को झख मारने में ही मजा आता है। अब इसका तो कोई उपाय नहीं है।"

मैंने अपना परिहास वाला स्वर पूर्ववत बनाए रखकर कहा—"झख (मछली) मारने की नौबत ही कहाँ आ पाई—इस ठहरे हुए जल में तो एक भी मछली नहीं फँसी।" पर लगता था कि वर्मा जी भीतर तक कुढ़े हुए थे—वह उसी आवेशपूर्ण स्वर में बोले, "आपसे भी मछली नहीं फँसी, ताज्जुब है। दो घंटे में तो आप जैसा कुशल खिलाड़ी इस काम में सफल हो जाना चाहिए था।"

मैंने उनके द्विअर्थी शब्दों को समझकर बात को आगे बढ़ाना उचित नहीं समझा क्योंकि वह अपनी पत्नी का दो घंटे मेरे साथ रहना बरदाश्त नहीं कर पा रहे थे। उन्हें उसमें कोई गम्भीर भीतरी मंतव्य नज़र आ

रहा था। लगता था कि वह मल्लिका के शील-स्वभाव से एकदम अपरिचित ही बना रहना चाहते थे। मैंने कहा, "कुशल खिलाड़ी पर लानत है। आप अब उठिए तो सही देवता स्वरूप। सारा दिन यहीं निकल जाएगा। कुछ नाश्ता-पानी करके आगे बढ़ने की सोची जाए।"

"दिन में अब बाकी ही क्या रह गया है।" कहते हुए वर्मा जी उठे और उन्होंने अपनी धोती और कुर्ते से घास के तिनके झाड़े।

वे मेरे पीछे चलते हुए टी-स्टाल पर आए। अब तक तीन प्याले चाय तैयार होकर मेज पर आ चुकी थी। मल्लिका कुर्सी पर बैठी हम लोगों की प्रतीक्षा कर रही थी। वर्मा जी ने मल्लिका के चेहरे पर चुभती नजर डाली और उससे दूर हटकर खड़े हो गए। मैंने उनसे बैठने के लिए कहा तो उन्होंने अपनी कुर्सी दूर खींच ली और स्टाल के शेड में जाकर बैठ गए। मैंने उनसे कहा, "अरे वर्मा साहब, उधर कहाँ जा बैठे आप। इधर आपके लिए चाय रखी ठंडी हो रही है।"

"मैं इस वक्त चाय नहीं पीता हूँ प्रभाकर जी। आप लोगों ने काफी मेहनत-मशक्कत की है। आप लोग ही पिएँ।" वर्मा जी ने झटका देकर कहा।

"चाय नहीं पीते तो कुछ और पीजिए।" मैंने उनके लिए आइस बाक्स से एक ठंडी बोतल निकलवाई। मगर उन्होंने उसे भी लेने से इन्कार कर दिया। मैं उनके भीतरी बिखराव को पूरी तरह जान-समझ रहा था पर उस ओर से अनजान बने रहने की कोशिश कर रहा था। मैं बोला, "कुछ नहीं पीएँगे यह बात तो समझ में आती है पर हम लोगों के साथ आकर भी नहीं बैठेंगे यह बात मेरे पल्ले नहीं पड़ रही है।"

मेरी बात सुनकर वर्मा जी को लगा कि मैं उनके व्यवहार पर क्षुब्ध हूँ। वह अपनी जिद छोड़ते हुए बोले, "नहीं-नहीं वैसी तो कोई बात नहीं है। कुछ खाने-पीने की इच्छा नहीं हो रही थी इसलिए मना कर रहा था। अभी तो चारेक घंटे ही हुए होंगे जब आपने खूब पेट-भर भोजन करा दिया था। मैं तो आठ-दस घंटे के लिए पेट की ओर से पूरी तरह मुक्त हूँ।" यह कहकर वे अपनी कुर्सी मेज़ के निकट खींच लाए और फिर अपनी पुरानी धुन पर लौट आए। बड़े-बड़े शहरों में तो लोगों को जब देखिए खाते-पीते ही रहते

हैं। हम लोग तो ऐसी जगह रहते हैं जहाँ अभी तक दो जून भोजन करने का ही पुराना कायदा चला आता है। वहुत से घरों में तो चाय-वाय का भी झंझट नहीं है।"

मैंने उनकी वात पर वहस नहीं की परन्तु मल्लिका अपने पति की वात को पचा नहीं पाई और उनकी ओर से मुंह फेरकर बोली, "प्रभाकर जी ! अब दुनिया के किसी कोने में ऐसा घर नहीं नजर आता जहाँ चाय-नाश्ते का रिवाज चालू न हो गया हो। कुछ लोग वैदिक और पौराणिक काल में जीवित रहते चले आ रहे हैं। उनके लिए तो कुछ किया नहीं जा सकता। वाकी इतना तो मैं अपनी आँखों से देख चुकी हूँ कि पहाड़ों में जो अधनंगे आदिवासी रहते हैं वे भी अब चाय और ट्रांजिस्टर का इस्तेमाल करने लगे हैं। चाय की दूकानें तो वस्तर के घोर जंगलों में भी देखने को मिल जाती हैं।'

पति-पत्नी के बीच इतना अवोलापन वढ़ चुका था कि मैं सोचकर सिहर उठा। मल्लिका-वर्मा जी से इतना आजिज आ चुकी थी कि वह उनकी ओर से मुँह फेरकर ही नहीं वैठ गई थी वल्कि उन्हें कुछ लोग कहकर सम्वोधित कर रही थी।

वर्मा जी के लिए मैंने मूंग की तली हुई दाल मँगा दी और सहजता वनाए रखने की कोशिश करते हुए वोला, "यह दाल आपको किसी भी प्रकार भारी नहीं पड़ेगी। इसे ढंग से नाश्ता भी नहीं कहा जा सकता। मूंग की दाल अत्यंत निरीह खाद्य है। इसके दो-चार दाने खा लेने में कोई हर्ज नहीं है। "

वर्मा जी ने प्लेट अपनी ओर खींचकर जीवन्त होने की कोशिश की—"चलिए आपकी ऐसी ही इच्छा है तो यों ही सही। हम तो जैसा आप कहेंगे वैसा ही करेंगे।" इसके वाद उन्होंने एकाएक पूछा, "क्या घर लौटने का इरादा अभी नहीं वना ?"

"घर ! अभी आपको निकले हुए कितनी देर हुई है? इसके अलावा अभी तक तो कहीं गए भी नहीं हैं। मेरा ख्याल है मल्लिका जी दिल्ली के किसी वाजार में घूमकर कुछ खरीदने का इरादा भी रखती हैं।" मैंने वर्मा जी को सूचना दी।

"औरतों का भी कुछ पता नहीं चलता साहब । भला अब कौन-सी ऐसी चीज है जो यहाँ दिल्ली में ही अनोखी है। हमारे शहर में क्या नहीं मिलता । हमारे यहाँ के सारे बाजार दिल्ली के ही सामानों से पटे पड़े हैं। फालतू में पैसा बर्बाद करो और बोझ ढोकर ले जाओ । गाड़ियों में बैठने तक की तो दिक्कत है। यह सामान का अम्बार ढोने के चक्कर में हैं। समझ में नहीं आता कब अक्ल आएगी।"

"मैं किसी के रुपए-पैसे खर्च नहीं करवा रही हूँ प्रभाकर जी। जो भी खरीदूँगी, अपने पास से खरीदूँगी। पता नहीं क्यों कुछ लोगों में बगैर बात मीनमेख निकालने की आदत होती है। अपने आप तो कभी यह सोचेंगे नहीं कि किसी की कोई जरूरत हो सकती है। अगर वह खुद उसे पूरी करने की कोशिश करे तो उसमें भी टाँग अड़ाए बिना नहीं मानेंगे।" मैंने मल्लिका का आवेश में डूबा स्वर और तमतमाया चेहरा देखा।

मल्लिका अब पूरी तरह विद्रोह पर उतर आई थी। लगता था कि वह वर्मा जी से उलझ पड़ेगी पर गनीमत यही थी कि वह उनसे प्रत्यक्ष रूप में कोई संवाद नहीं कर रही थी। वह जो भी कह रही थी सामने बैठे व्यक्ति को परोक्ष में सुना रही थी। आमने-सामने होने पर तू-तू मैं-मैं होने में देर न लगती पर अब सारी शिकवेबाजी इधर-उधर बिखर रही थी। मैंने वर्मा जी की ओर दाल की दूसरी प्लेट बढ़ा दी, जिसकी ओर उन्होंने पहले कोई ध्यान नहीं दिया फिर अनजाने में चम्मच उठाकर तली हुई दाल को हथेली पर रखकर फंका मारकर खाने लगे।

मल्लिका अपनी चाय खत्म करके उठी और चाय के स्टाल से थोड़ा हटकर जो चाटवाला बैठा था उससे चाट बनाने को कहकर मुझसे बोली, "प्रभाकर जी, आप तो चाट खाएँगे ही।"

"क्यों नहीं ?" कहकर मैंने वर्मा जी के चेहरे पर निगाह डाली। मल्लिका का चाट खाने का प्रस्ताव उन्होंने भी सुन लिया था और यदि वह स्थिति को विषमता से निकालकर सहज बनाने में दिलचस्पी लेते तो तत्काल कह सकते थे, 'प्रभाकर जी चाट मैं भी खाऊँगा', मगर उनमें तो सहजता के कोसों दूर तक दर्शन नहीं होते थे इसलिए वह मल्लिका की ओर से पूरी तरह निरपेक्ष रहकर अपनी दाल खाने में मगन रहे।

मैं मल्लिका के पास जाकर बोला, "भई मैं तो चाट के नाम पर सिर्फ गोलगप्पों को चाट मानता हूँ। इसलिए बस गोलगप्पे ही खाऊँगा। जाहिर है तुम इन निरीह बताशों से बाद में चाट का उपसंहार करोगी। सो जो भी तुम्हें खाना है खाओ। मैं तो चार-छः पानी-पटाके यानी गोल-गप्पे ही खाकर चाट धर्म का निर्वाह कर लूंगा।"

मल्लिका ने मेरी बात नहीं सुनी। उसने मेरे और अपने लिए बाकयादा दो प्लेट दहीवड़े बनवाए और फिर बाद में भी न जाने क्या-क्या बनवाती चली गई। मैंने महसूस किया कि वह अपने पति को पूरी तरह उपेक्षित करके मानसिक रूप से ध्वस्त करने पर आमादा हो गई थी। यह बहुत भयंकर और मारक स्थिति थी पर मेरे लिए इसमें संशोधन करने की कोई गुंजाइश बाकी नहीं रह गई थी। पति-पत्नी जब दोनों ही विवेक को तिला-जलि देकर परस्पर शत्रु भाव धारण कर लें तो उनमें बाहर का आदमी कोई समझौता नहीं करा सकता। मल्लिका के प्रति वह जिस बेरुखी और अपमान का व्यवहार देर से करते चले आ रहे थे उसकी प्रतिक्रिया तो इसी रूप में सामने आने वाली थी। मैंने उस ओर से स्वयं को हटा लिया और बोला, "अब जल्दी से चाट-वाट खत्म करके आगे बढ़ने की सोचो वर्ना सारा दिन यहीं नष्ट होकर रह जाएगा।"

मेरी बात का मल्लिका पर तुरन्त प्रभाव हुआ। उसने अपनी कलाई घड़ी पर नजर डाली और बोली, "पहले क्यों नहीं कहा, मैं चाट न बनवाती।"

"तुम्हारा चाट खाने का मन है तो उसे क्यों मारती हो। पहले चाट खाओ। इसमें देर ही कितनी लगने वाली है पर हमें अब थोड़ी जल्दी करनी पड़ेगी।"

"ठीक है" कहकर उसने चाट वाले के हाथ से प्लेट लेकर मेरे हाथ में थमा दी और कहने लगी, "अब उधर मेज पर जाकर न बैठिए। यहीं खड़े होकर जल्दी से खा लीजिए ताकि जल्दी से निपटारा हो जाए।"

मैंने उसके कहे अनुसार वहीं खड़े होकर चाट खाना शुरू कर दिया। वर्मा जी सन्नाटे में डूबे चुपचाप प्लेट में पड़ी दाल निपटाते रहे। उन्होंने आँखें उठाकर एक बार भी मेरी और मल्लिका की ओर नहीं देखा।

पाँच

मैंने सड़क से गुज़रती एक खाली टैक्सी को हाथ दिया। ड्राइवर ने टैक्सी रोक ली और टैक्सी से उतरकर उसने दरवाजा खोल दिया। मैंने मल्लिका से पिछली सीट पर बैठने को कहा और जब वह टैक्सी के अन्दर चली गई तो मैंने वर्मा जी से भी पिछली सीट पर बैठने को कहा। वे एक क्षण झिझके मगर वहाँ कुछ कहने-सुनने का मौका न देखकर बाद में टैक्सी में दाखिल हो गए।

मैं ड्राइवर के बाज़ू में जा बैठा और उससे बोला, "महरौली चलो।" टैक्सी चल पड़ी तो मुझे पहली बार महसूस हुआ कि देर तक डाँड़ चलाते रहने के कारण मेरी बाँहें दुख रही हैं। हालाँकि जहाँ नाव चलाई गई थी वहाँ न ढंग का पानी था और न वह नाव ही नाव जैसी थी, पर देर तक पतवारों के साथ धींगामुश्ती करते रहने की वजह से बाज़ू दुखने लगे थे।

मल्लिका और वर्मा जी दोनों अलग-अलग बैठे थे पर उनमें से कोई भी कुछ नहीं बोल रहा था। उन दोनों के दैहिक सामीप्य के बावजूद उनके बीच असीम दूरी फैल गई थी। मैंने देर तक सोचा कि पीछे की ओर मुड़कर कोई बात चलाऊँ पर मुझे कोई ऐसी बात नहीं सूझी जिसे लेकर स्थिति सामान्य हो सकती थी। साथ ही यह डर भी लगा हुआ था कि कहीं पति-पत्नी का विग्रह टैक्सी में ही न मुखर हो जाए। टैक्सी ड्राइवर का ख्याल करके मैं चुप रहा पर वह चुप्पी एक मनहूस किस्म के शोर से किसी कदर ज्यादा ही थी।

टैक्सी कुतुबमीनार के नजदीक जाकर ठहर गई। मैंने टैक्सी का किराया चुकाने के लिए जेब में हाथ डाला तो मल्लिका ने मुझे आखों के इशारे से किराया न देने का संकेत किया और जल्दी से अपना पर्स मेरी ओर बढ़ाते हुए बोली, "प्लीज़ डोंट पे फ्राम योर पाकिट, व्हाई डू यू टेक दिस अनवान्टेड बर्डन आन यू।"

मैंने उसका पर्स पकड़े रहने के बावजूद टैक्सी का किराया अपनी जेब से ही चुकाया और हँसकर बोला, "बहुत मौके आएँगे इतने बड़े और भारी-भरकम बटुए को खोलने के—फिलहाल तो मामला बहुत थोड़े से पैसों का था, सो मैंने सोचा···" "कुछ नहीं सोचा-वोचा आपने। यह आप की सरासर ज्यादती है कि सारी जगह आप ही बिल चुकाते हैं, हमें तो शरम आती है। एक तो वैसे ही दो-दो आदमी आपके ऊपर बोझ जैसे आ पड़े हैं। ऊपर से हर जगह आप ही खर्च करते चले जाते हैं। यह बात बड़ी बुरी मामूल पड़ती है।" यह कहने के दौरान मल्लिका ने गर्दन जरा-सी टेढ़ी करके अपने पति का चेहरा देखा और तत्काल मेरी ओर मुँह करके "बोली, अगर आपने आगे जेब में हाथ डाला तो मैं आपको कसम दे दूँगी।"

मल्लिका की कसम देने की बात पर मैं हँस पड़ा और बोला, "अरे अभी तक दुनियां में कसम बाकी है—मैं तो समझता था कि यह चीज कब की लद चुकी होगी।"

मैंने मल्लिका का पर्स उसे लौटा दिया और आगे बढ़ते हुए गाइड के अन्दाज़ पर बोला, "तो साहेबान, यह जो आसमान को छूती अजी मुश्शान बिल्डिग आप देख रहे हैं—यह काफी पुरानी है। जैसा कि इसके नाम से जाहिर है यह कुतुबुद्दीन एवक बादशाह की तामीर कराई हुई इमारत हैं। मगर कुछ लोगों का दिल इस बात से टूटता है कि इतनी बढ़िया लाट मुसलमान बादशाह के नाम से क्यों जुड़ी हुई है सो उन्होंने फैसला किया है कि यह पृथ्वीराज चौहान का एक हैरत अंग्रेज शाहकार है और उसकी पत्नी संयोगिता यमुना के दर्शन किए बिना भोजन नहीं करती थी सो पृथ्वीराज ने अपनी प्राणेश्वरी के लिए यमुना दर्शन का यही एक उपाय निकाला कि आसमान तक एक मीनारनुमा सीढ़ी बनवा दी।"

मल्लिका मेरी फिकरेबाजी वाली भाषा सुनकर मुक्त भाव से हँसने लगी और बोली, "आप तो पेशेवर गाइड मालूम पड़ते हैं।"

अपने चेहरे पर मैंने गम्भीर भाव ओढ़कर कहा, "जी हाँ मेमसाब, जब पर्स खोलकर गाइड को मार्गदर्शन का भाड़ा चुकाना पड़ेगा तो पता चल जाएगा कि वह पेशेवर है या शौकिया।"

वर्मा जी अभी तक मेरी और मल्लिका की बातचीत से बेखबर होकर

चढ़ते चले जा रहे थे। हम दोनों को एक स्थना पर रुका देखकर वह इस तरह चौंके गोया सोते-सोते अचानक जाग पड़े हों। वह देश-काल की गति से ऊपर लग रहे थे और यह नहीं समझ पा रहे थे कि हम लोग चलते-चलते सहसा ठहरकर क्यों खड़े हो गए हैं।

कुतुबमीनार देखने के लिए रविवार को सैलानियों की बेपनाह भीड़ उमड़ पड़ती है। इतवार की वजह से आज भी भीड़ का वही आलम था। सैकड़ों लोग मीनार की सीढ़ियों से ऊपर चढ़ रहे थे और मीनार की सीढ़ियाँ उतरकर बाहर निकालने वालों की संख्या भी कुछ कम नहीं थी। अच्छी-खासी भीड़ मीनार के पास दर्शकों की भी जुटी हुई थी।

कुतुबमीनार से थोड़ा हटकर खँडहरों और अष्टधातु के स्तम्भ के पास भी बहुत भीड़ जुटी हुई थी और कई लोग धातु के स्तम्भ को अपनी बाँहों में भरने की कोशिश कर रहे थे।

मैंने वर्मा जी को कुतुबमीनार पर चढ़ने को उत्साहित करते हुए कहा, "वर्मा जी, मीनार पर ऊपर चढ़कर दिल्ली शहर का नज़ारा तो लीजिए। सारा शहर बच्चों के घरौंदों सरीखा नज़र आएगा।"

वर्मा जी ने मीनार पर चढ़ने के प्रति कोई उत्साह प्रदर्शित नहीं किया। वह बोले, "फालतू में इतनी सीढ़ियाँ चढ़कर थकने का क्या लाभ—मुझे दिल्ली शहर के फैलाव को देखने से क्या मिलेगा—यह तो एकदम निठल्ले लोगों का काम है। आप और 'ये' (उन्होंने मल्लिका की उँगली से संकेत किया) ऊपर चढ़कर देख आइए—तब तक मैं आसपास घूम-फिरकर इस प्राचीन इमारत के खँडहरों को देखे लेता हूँ। मैं तो कालेज के दिनों में एक बार कालेज टूर की तरफ से आया था तो ऊपर चढ़कर सब कुछ देख चुका था। इसके अलावा इसमें बार-बार देखने को रखा भी क्या है।"

मल्लिका ने मुँह बिचकाकर कहा, "हाँ प्रभाकर जी इस मीनार में देखने को रखा ही क्या है? हाँ खँडहरों में घूम लेने को तो बहुत कुछ रखा है—शायद वहाँ कोई मनचाही वस्तु मिल जाए। ऐसी मनभावन चीजें तो एकान्त में मिला करती हैं।" यह कहने के बाद मल्लिका निष्ठुरता से हँस पड़ी।

विद्रूप को मैं जितना ही समाप्त करना चाहता था वह उसी

वढ़ता चला जा रहा था। मैंने मल्लिका के व्यंग्य को हल्का करने की गरज से कहा, "उनके स्वयं अपने पास इतनी अनमोल मणि है कि वह कहीं और भी भटकने क्यों जाएँगे!"

मल्लिका उन्मुक्त भाव से हँस पड़ी और बोली, "अपनी मणि तो सब को काँच लगने लगती है—उसे देखने वाली आँखें तो किसी के पास रहती ही नहीं हैं। फिर क्यों पीछे पड़ते हैं किसी के। कुतुबमीनार और ताजमहल कालेज के जमाने में देखा ही जा चुका है। जैसे और चीजों का नयापन मर चुका है—इसी तरह इस मीनार को देखने का उत्साह भी ठंडा हो चुका है। अलवत्ता इधर-उधर जो जीती-जागती देशी-विदेशी चटपटी चीजें, तितली जैसी उड़ी फिर रही हैं उनमें नवीनता की काफी गुंजाइश है।"

यद्यपि मल्लिका ने वर्मा जी को सीधे सम्बोधित नहीं किया था पर वह मल्लिका के प्रहार से तिलमिला उठे और बलपूर्वक मुस्कराकर बोले, "देखता हूँ इस इधर-उधर वाले 'माल' में इनकी भी दिलचस्पी कुछ कम नहीं है।"

मुझे हर क्षण यही लग रहा था कि पति-पत्नी के बीच में रोष की जो दरार वढ़ती ही जा रही है वह किसी क्षण दोनों को अपने भीतर लील जाएगी। मैंने वर्मा जी का हाथ पकड़कर आहिस्ता से खींचा और बोला, "वर्मा जी, मल्लिका का यह संकेत एक तरह से हमारे पुरुष होने के लिए चुनौती जैसा है। कोई बात नहीं, हम इस चुनौती को स्वीकार करेंगे और दोनों मिलकर दिखला देंगे कि यह 'इधर-उधर' वाली चीजें हमारे और आपके सामने वेचती क्या हैं।"

वर्मा जी बुझे से स्वर में बोले, "प्रभाकर जी गलत किस्म की चुनौतियों को स्वीकार करने का मेरा स्वभाव नहीं है। यदि दूसरे गिरने लगें, मार्ग-च्युत हो जाएँ अथवा भद्रता-शीलता को अपने ऊपर से उतारकर फेंक दें तो मैं भी वैसा ही हो जाऊँ यह मेरे बूते की बात नहीं है। मैं जैसा हूँ वैसा ही भला हूँ।"

मैंने वर्मा जी के चेहरे पर दुख की परछाइयाँ उतरते देखीं तो मुझे भीतर ही भीतर एक कचोट-सी अनुभव हुई। यह आदमी व्यर्थ में क्यों कुढ़ रहा है। इसको अकारण दुख झेलने की क्या जरूरत है जबकि इसकी पत्नी

में कैसी भी रोबदारी का लेहा भी नहीं है। मैंने उन्हें समझाने की चेष्टा की, "मैं जब से आपको यहाँ दिल्ली में देख रहा हूँ आप जहाँ भी जाते हैं बस बैठ जाने का अभ्यास करने लगते हैं। मैं मानता हूँ कि इस बेहूदा शहर में आप बुरी तरह ऊब रहे हैं लेकिन बोर होते चले जाने से तो आपकी थकान बढ़ेगी ही।" मैंने अपनी बात को ठिठोली का रूप देने के लिए कहा, "आपने क्या यह कविता नहीं पढ़ी—आपके प्रदेश के कवि ने ही तो लिखा है—'संसार है, संसार है, रुकना यहाँ अच्छा नहीं'।"

क्षणभर पहले जो निराशा और थकान वर्मा जी के चेहरे पर उभरी थी और उनके शब्दों से विवशता का जो भाव व्यक्त हुआ था वह दूसरी ओर मुड़ गया। वह बोले, "नहीं, नहीं, मैं ठीक हूँ, मुझे थकान-वकान नहीं है।" आप इन्हें जो ये चाहें दिखलाइए, मैं तब तक इधर-उधर घूम लेता हूँ"। एक क्षण ठहरकर उन्होंने उड़ती-सी दृष्टि मल्लिका पर डाली और बड़बड़ाए "यहाँ कौन हम ही अकेले हैं; इस भीड़ में न जाने कितने लोग अकेले होंगे। अकेले आदमी का जीवन क्या ठहर जाता है—वह भी किसी न किसी तरह कट ही जाता है" और यह कहने के साथ ही वह हम लोगों को छोड़कर दूसरी ओर मुड़ने लगे।

उसी समय पता नहीं मल्लिका को क्या सूझी, उसने अपने कन्धे पर पड़े प्लास्टिक के बैग को उनकी ओर बढ़ाते हुए कहा, "जब ये ऊपर ही नहीं चढ़ रहे हैं तो प्रभाकर जी इस बैग को यही क्यों न ले जाएँ? इसे उठाए फिरना कोई मेरी ही जिम्मेदारी है?"

मैंने मल्लिका से परिहास में कहा, "मल्लिका जी, आप तो बहुत ही चालाक मालूम पड़ती हैं। आप वर्मा जी के हाथ में यह बैग थमाकर अपना ट्रेड मार्क सौंपना चाहती हैं कि बेचारे बिना पत्नी के मुक्त होकर घूमने-फिरने भी न पावें। जहाँ भी, जिधर से भी निकलें हर कोई यही सोचे कि यह अपनी श्रीमती जी को खोजते घूम रहे हैं।"

वर्मा जी ने मेरे मजाक पर कोई ध्यान नहीं दिया। सूखे कण्ठ से कर्कश स्वर में बोले, "ठीक है मैं तो सामान ढोने वाले नौकर की हैसियत से ही इनके साथ आया हूँ। हम्माल की भी कुछ तो कद्र होती होगी—हमार वह भी नहीं है।" यह कहने के साथ ही उन्होंने मल्लिका के बढ़े हुए

बैग ले लिया।

लेकिन आगे बढ़ने से पहले वह एक क्षण ठिठके और बोले, "पर्स भी तो कम वजनी नहीं है—इसे ढोने वाला भी तो कोई चाहिए। यदि इसको मैं लेकर भाग जाने वाला नहीं हूँ तो इसे भी मैं सँभाले रह सकता हूँ।"

यह एक विषम परिस्थिति थी। मैं मल्लिका से पर्स उन्हें देने के लिए नहीं कह सकता था। लाख पति-पत्नी सही मगर जब पारस्परिक विश्वास और सौहार्द खंडित हो जाए तो फिर मिली-जुली इजारेदारी चल नहीं पाती। मैं सोच नहीं पा रहा था कि ऐसी स्थिति में क्या करणीय है। मल्लिका के चेहरे पर क्षणभर के लिए सोच और चिन्ता का बादल आया। मगर अगले पल ही उसने अपना पर्स वर्मा जी की ओर बढ़ा दिया।

मल्लिका के हाथ से पर्स लेने में वर्मा जी ने कोई देर नहीं की और उनकी ओर से मुँह फेर कर वह मुझसे बोली, "आइए चलें-देखें आपकी कुतुब-मीनार पर चढ़कर कैसा लगता है। इन्हें तो किसी चीज़ को देखने-सुनने में कोई दिलचस्पी नहीं रह गई है। और खास तौर से मेरे साथ होने पर तो सब कुछ बोझ जैसा महसूस करते हैं।"

मैंने वर्मा जी को दूसरी तरफ जाते हुए देखकर मल्लिका से कहा, "आप भी तो हद करती हैं। आपने पत्नी जैसा व्यवहार ही कहाँ किया, उनकी ओर से मुँह फेरकर बातें करती चली आ रही हैं। मेरा ख्याल है अगर आपने उनसे एक बार ऊपर चलने का इसरार किया होता तो वह अन्ततः साथ में चल ही पड़ते।"

"छोड़िए इस इसरार-विसरार की चोंचलेबाजी को। अब यह जबर-दस्ती मुझसे नहीं होती। एक आदमी जब पत्थर की तरह ठंडा और जड़ होकर बैठ ही जाना चाहता है तो उसे कहाँ तक खींचा-घसीटा जा सकता है। फिर एक जैसी मनःस्थिति हर वक्त बनाकर कौन रख सकता है? ये अब इधर-उधर अकेले ही टक्करें खाते फिरते रहेंगे। मैं तो इस स्थिति को शुरू से ही झेलती चली आ रही हूँ।"

मैंने आगे बढ़ते हुए देखा कि वर्मा जी दाईं तरफ मुड़कर खँडहरों की ओर चले गए। मल्लिका की आग्रहहीनता से वह पूरी तरह तनकर चले जा रहे थे। मैंने मल्लिका से कुछ भी कहना ठीक नहीं समझा। कहने का कोई

अर्थ भी नहीं था। मल्लिका पहले से ही उखड़ी हुई और आहत थी। मेरे कुछ कहने से उसका मन शायद और दुखी हो जाता।

हम दोनों मीनार में दाखिल हो गए और कम चौड़ाई वाली सँकरी तथा ऊबड़-खाबड़ सीढ़ियों पर चढ़ने लगे। ऊपर से बहुत से लोग नीचे की तरफ उतरकर आ रहे थे। हम लोगों के पीछे भी बहुत से लोग ऊपर की ओर चलते चले जा रहे थे।

मल्लिका के चेहरे पर इतनी देर में थोड़ी सहजता लौट आई थी। वह कहने लगी, "यहाँ तो हजारों आदमी आते होंगे हर रोज। बस यूँ ही ताँता लगा रहता है आने-जाने वालों का ?"

मैंने कहा, "असल में मीनार की ऊँचाई पर पहुँचकर इधर-उधर देख लेने की वास्तविक उत्सुकता लोगों में उतनी नहीं होती है। दिल्ली में या कहीं और जाने पर एक मानसिकता यह भी होती है कि सारे महत्त्वपूर्ण और प्रसिद्ध स्थानों को देख लिया जाए जिससे कि अपने घर और नगर में लौट कर बतलाया जा सके कि हमने क्या-क्या देख डाला है। दुनिया में यही दृष्टि ज्यादा है वर्ना इन पत्थरों में ऐसा सब है जिसे देखकर कोई खुश हो जाए।"

मल्लिका ने मेरी ओर आँखें टेढ़ी करके देखा और बोली, "तो आपका ख्याल यह है कि मैं भी इस नजरिए से यहाँ आई हूँ।"

"नहीं, नहीं, आपके बारे में मैं ऐसा नहीं सोचता क्योंकि आपने यहाँ आने का या कहीं और जाने का कोई सवाल नहीं रखा है। यह तो मैंने ही किया है कि आप को खींचकर यहाँ ले आया हूँ। मैं न कहता तो शायद आप इधर आती भी नहीं। मैंने तो एक बात कही है जो सामान्यतः बहुत से लोगों पर लागू होती है।" फिर मैंने मजाक में कहा, "आप भी कम रची नहीं हैं। हर बात को खुद पर चिपकाकर बैठ जाती हैं।"

"पहले तो मैं वैसी नहीं थी, मगर अब मुझे भी बातों को बगैर बात खींचने की आदत हो गयी है। आदमी जिस तरह की संगति में रहता है—अनजाने में वैसा ही होने लगता है।"

मैंने हँसी में कहा, "पर यह भी तो कहा गया है—'जो रहीम उत्तम प्रकृति, कहाँ कर सकत कुसंग। चन्दनविष व्यापत नहीं, लपटे रहत भुजंग।'

"चन्दन को ही तो विष नहीं व्यापता। पर हमारी तो स्थिति 'प्रभु जी तुम चन्दन हम पानी वाली है।' पानी में कड़वापन मिला देने से तो वह मीठा नहीं हो सकता।" मल्लिका ने भी मजाक करते हुए मेरी बात का उत्तर दिया। आप पानी हैं तो क्या कहना ! हर एक प्यसा पानी की ओर ही दौड़ता है। फिर कहा भी गया है—'बिन पानी सब सून। मोती मानुष चून'!"

मल्लिका हँसकर बोली, "आपको आदर्श उक्तियाँ तो खूब जमकर याद हैं। किस मौके पर क्या सूत्र काम का होगा इसे अच्छी तरह याद किए हुए हैं।"

"क्या करें, कब किससे पाला पड़ जाए इसका तो कोई ठिकाना है नहीं। अपनी बात से किसी को कन्वींस न कर पाने की स्थिति में किसी महान का बोला आप्त वचन सुनाकर ही समझाना पड़ता है।"

"मगर महान वचन बोलने वाले स्वयं भी विद्रूप का शिकार कम नहीं होते।"

"सब चलता है इस दुनिया में। कहा भी गया है—यह दुनिया है, यहाँ जीना-जिलाना किसको आता है।"

इस बार मल्लिका खूब जोर से हँसकर बोली, "लगता है आज आपको 'कहा गया है' से खास लगाव हो रहा है 'कही गई सारी बातें एक-एक करके याद आती चली जा रही हैं।"

अब तक मल्लिका के चेहरे से सारा तनाव लुप्त हो चुका था और वह खूब पुलकित होकर सीढ़ियाँ फलाँगती चल रही थी। थोड़ी देर पहले अपने पति को लेकर जो कड़वाहट उसके सारे अस्तित्व पर हावी हो गई थी उसका इस क्षण कहीं लेश मात्र भी नजर नहीं आ रहा था। वह प्रसन्न भाव से अन्तिम सीढ़ी पार करके मुझसे बोली, "देखिए मैं आपसे भी पहले ऊपर पहुँच गयी।"

मैंने अन्तिम सीढ़ी पार करते हुए कहा, "हम तो आपके अनुगामी बने रहने में हीं अपनी खैरियत समझते हैं।"

"अब लगे फिर से मुझे बनाने।" मल्लिका हाँफते हुए बोली। कई मंजिलों तक सीढ़ियाँ चढ़ने की वजह से वह थक गयी थी और उसकी साँस

फूली हुई थी। लेकिन उसके मुख पर जो प्रसन्नता की आभा थी उससे उसका आन्तरिक उल्लास फूटा पड़ता था।

मैंने ऊपर की रेलिंग पकड़कर हाथ से नीचे की ओर संकेत किया और उससे नीचे का दृश्य देखने को कहा। वह मेरे नजदीक खड़ी हो गयी और नीचे की ओर दृष्टि डालकर बोली, "वण्डरफुल ! क्या नज़ारा है। रियली ग्रैंड।"

"देख लो, यही तो इसका जादू है कि आदमी चाहे बस्तर के इलाके से आए मगर दिल्ली में सबसे ऊँची इमारत पर पहुँचते ही अपना आश्चर्य अंग्रेजी में प्रकट करने लगता है।"

वह बच्चों की तरह किलकारी भरकर मेरे और करीब आ गई। बिलकुल सटकर खड़े होते हुए बोली, "मगर यहाँ से नीचे देखते हुए डर भी तो लगता है—कहीं नीचे गिर पड़ूँ तो हड्डी-पसली का भी पता नहीं चलेगा। इतनी ऊँचाई पर खड़े होकर नीचे झाँकने में दहशत नहीं होती क्या !" उसने अपनी आँखें ऊपर उठाईं—उसका सिर अनजाने में मेरे कन्धे से आ लगा था।

"ऊँचाई तो हमेशा खतरनाक होती ही है। जो शिखर पर खड़ा दिखाई देता है नीचे खड़े लोग इसके अलावा और कुछ सोच ही नहीं पाते कि देखें यह नीचे कब गिरता है। इसलिए ऊँचाई पर खड़े होकर नीचे देखते भयानक मालूम पड़ता है। चीज़ें अपने सही आकार में दिखलाई नहीं पड़तीं।"

"सही आकार की बात तो छोड़ ही दीजिए, दूर की क्या पास की चीज़ें ही कौन से सही रूप में नज़र आती हैं ? हम अपने सामने वाले आदमी के बारे में क्या जानते हैं ? बस जितना सामने दीखता है, वही पूरा नज़र आता है। उसके भीतर क्या कुछ दिया हुआ है, उसका सम्पूर्ण क्या है—इसे कौन जान पाता है ? बरसों-बरस साथ रहते चले जाने पर भी तो कुछ हाथ नहीं लगता।"

"बात तो तुम ठीक कहती हो—मगर जो कुछ कहती हो स्वयं उसके विरुद्ध चली जाती हो।" मैं यह बात कह तो गया पर साथ ही मुझे लगा कि मल्लिका कहीं इसे व्यक्तिगत आक्षेप के रूप में न ले। मैंने अपनी बात

को सामान्य बनाने की गरज से कहा, "मेरा मतलब है कि हम जो कुछ जानते हैं उसको कभी-कभी व्यवहार के क्षणों में पूरी तरह विस्मृत कर बैठते हैं।"

मल्लिका की दृष्टि उस विदेशी के कैमरे पर टिकी हुई थी जो मीनार के दरवाजे पर खड़े होकर नीचे के दृश्यों की तस्वीर ले रहा था पर बातें वह मुझसे ही कर रही थी। मल्लिका बोली, "आचरण में जो नहीं आ पाता वह महज ऊपरी जानकारी बनकर रह जाता है। जैसे दो और दो का जोड़ हमारे लिए हमेशा सहज बोधगम्य है उसी तरह जानकारी का उपयोग भी सहज ग्राह्य है लेकिन शर्त वही है कि वह सिर्फ जानकारी न रह जाए, हमारी चेतना का हिस्सा बन जाए।"

"अरे हम लोग तो अनजाने में दार्शनिक होते चले जा रहे हैं," कहकर मैंने मल्लिका का ध्यान दिल्ली की इमारतों और दूर तक फैली वनस्पति की ओर खीचा। नीचे के खँडहर और इमारतें दिल्ली की भव्यता और विस्तार को बच्चों के घरौंदों के रूप में प्रस्तुत कर रहे थे।

मल्लिका कुछ देर तक मेरे द्वारा सुझाए गए सपनों को ध्यान से देखती रही और फिर बोली, "मालूम है हमारे 'वह' हम लोगों के साथ होते तो क्या कहते?"

मैंने सहज उत्सुकतावश पूछा, "क्या कहते?"

"वह कहते, आह! ऊँचाई ही चरम, (या परम) सत्य है क्योंकि यहाँ से वस्तुएँ अपनी सम्पूर्ण छुद्रता में दृष्टिगोचर होती हैं।"

मल्लिका ने चेहरा गम्भीर बनाकर भौंहों में बल डालते हुए जिस अन्दाज में यह बात कही उसे सुन-देखकर मैं बेसाख्ता हँस पड़ा। मैंने कहा, "लगता है कि वर्मा जी की अनुपस्थिति तुम्हें अब काफी खल रही है। धर्म-पत्नी, परिणीता, अर्धांगिनी वगैरह होकर औरत अपने आदमी को उसकी अनुपस्थिति में ही ज्यादा याद करती है शायद।

"नहीं, ऐसी कोई बात नहीं है।" मल्लिका ने जोर लगाकर मेरी बात का विरोध किया।

"ऐसी बात नहीं है तो बेचारे वर्मा जी को अपने से अलग चले जाने पर मजबूर करके तुम उन्हें क्यों याद करने पर लगी हुई हो।"

"मैं उन्हें याद नहीं कर रही हूँ—वह तो सिर्फ प्रसंगवश मैंने कहा था। क्या कई बार ऐसा नहीं होता कि किसी मिलती-जुलती परिस्थिति में आप ऐसे आदमी का भी उल्लेख करें जिससे आप कहीं बहुत गहरे जुड़े हुए नहीं होते हैं।"

"मैं ऐसा नहीं मानता हूँ। हमारे अवचेतन में वही स्थितियाँ और वही लोग बने रहते हैं जिन्हें हम बाहर से चाहे कितना ही गौण या साधारण मानते चले आते हैं पर वह हमारे मन में कहीं बहुत गहरे उतरे हुए होते हैं।"

"प्रभाकर जी, आपने जबरदस्ती मनोविज्ञान लगाना शुरू कर दिया, जरा-सी मामूली बात है।"

"लगाना ही पड़ता है—मनोविज्ञान से हम बच ही कैसे सकते हैं। हमारे जीवन का समस्त व्यवहार जाने-अनजाने मनोविज्ञान की ही परिधि में तो आता है।"

मल्लिका ने कहीं दूर देखते हुए पूछा, "वह कैसे ?"

"इसे आप यों समझिए कि ऊपर से हम यही कहते चले आते हैं कि हमें किसी की परवाह नहीं है पर दूसरों की पसन्दगी-नापसन्दगी का हमें अन-जाने में ही हरदम ख्याल बना रहता है। जब कोई हमें देखकर हमारी प्रशंसा करता है तो हम प्रसन्नता और उत्साह का अनुभव करते हैं। इससे भी कोई फर्क नहीं पड़ता कि वे कौन हैं—वह साधारण, असाधारण जानकार-अनजान और यहाँ तक कि अपरिचित विदेशी व्यक्ति भी हो सकता है। आपकी साड़ी, जूड़े में टँके फूल या गले में पड़ी माला को वह दिलचस्पी की नज़र से देखता है तो आपको एक सार्थकता की अनुभूति होती है। इसके विपरीत यदि वह आपको देखकर मुँह फेर ले या उपेक्षा का रुख अपना ले तो आप उपेक्षित और अपमानित अनुभव करती हैं जबकि उसके इस व्यवहार से आपकी कोई वास्तविक क्षति नहीं होती है।"

मल्लिका हठपूर्वक बोली, "मैं ऐसा नहीं मानती हूँ—मेरे साथ ऐसा नहीं होता है।"

"यह भी दूसरे तरह का स्वीकार है। आपके नहीं मानने की वात कहने से कोई अन्तर नहीं पड़ने जा रहा है। स्थिति अपनी जगह ज्यों की त्यों है।

अगर ऐसा न होता तो आप घर में जो अच्छी भली साड़ी पहने हुए थीं उसे बदलकर आने की कोई जरूरत नहीं थी क्योंकि जब आप गुसलखाने से निकली थीं तो आपने नई साड़ी धारण की हुई थी। मैं नहीं समझता कि फिर से आपको चार साड़ियाँ निकालकर यह जाँचने की जरूरत होनी चाहिए थी कि कौन-सी साड़ी पहनूँ। आप अपने शहर और घर में होतीं तो घर से निकलते समय शायद अपने पति से भी पूछतीं कि कौन-सी साड़ी पहनूँ।"

मल्लिका ठठाकर हँस पड़ी और बोली, "आपको नारी मन की राई-रत्ती खबर है—यह ज्ञान आपको कैसे प्राप्त हुआ, बता सकते हैं?"

मैंने जगद्गुरु शंकराचार्य जैसा एकनिष्ठ ब्रह्मचारी होने का दावा कभी नहीं किया—किया भी होता तो शायद वह प्रवंचना ही हुई होती। आपके साथ कुछ वक्त रहकर जो सीख पाया हूँ वैसा ही थोड़ा-थोड़ा और लोगों के साथ रहकर भी जान गया हूँ।"

फिर मैंने अचानक पूछा, "अब शायद आप मेरी बात मान रही हैं।"

"आप बहुत जोरों से मनवाने पर उतर आए हैं तो मान लेने के अलावा दूसरा चारा ही क्या है," मल्लिका ने अपने चेहरे पर विवशता का भाव लाकर कहा।

"अच्छा तो अभी आप विवश भाव से स्वीकार कर रही हैं तो आपको अभी एक और भाषण सुनना होगा। जानती हैं इस दुनिया में प्रत्येक मनुष्य को अपने अस्तित्व की उपस्थिति को सिद्ध करना पड़ता है। यह कतई जरूरी नहीं है कि वह हर समय शरीर से ही यह बात साबित करे। आप कहीं नहीं भी हो सकते हैं लेकिन आपको लेकर जो चिन्ता या सरोकार सामने आता है वही आपकी उपस्थिति जाहिर कर देता है।"

मल्लिका दूर देखती रही और उसकी आँखों में सोचने का भाव उभर आया। फिर उसने एकाएक मेरी ओर देखकर पूछा, "अच्छा, आप तो बड़े अनुभवी हैं और जीवन के गहरे रहस्यों और प्रश्नों से जूझते हैं—यह तो बताइए कि आप शरीर को कितना महत्व देते हैं?"

"बहुत ज्यादा महत्व देता हूँ।"

"पर क्या वह इतना महत्व देने योग्य है?" मल्लिका ने सहसा यह

प्रश्न मुझसे क्यों पूछा इसकी कोई प्रासंगिकता मेरी समझ में नहीं आई। पता नहीं उसके मन में कौन-सी नई उलझन खड़ी हो गई थी। मैंने कहा, "शरीर ही तो महत्व देने की दृष्टि से प्राथमिक है। हमारा जो कुछ भी जीवन और जगत से सरोकार है उसके माध्यम से है।"

"माध्यम तो हमारा मन और चेतना है—शरीर तो संवेदना के स्तर पर स्थूल तत्त्व है।"

"यह कैसी बात कही आपने ?" मैंने हँसकर पूछा।

"क्योंकि सब मन और आत्मा की ही तो बातें करते हैं।" मल्लिका के चेहरे पर निरीह भोलापन उतर आया।

"मगर मन, आत्मा या बाकी हवाई चीजों का अस्तित्व देह की अनुपस्थिति में कहाँ रहता है ? आप आत्मा या मन से जुड़ी रह सकती हैं यदि देह का कोई अस्तित्व ही न रह पाए ? मनुष्य की सारी जीवनचर्या तो एकमात्र शरीर के माध्यम से ही लौकिक और पारलौकिक से जुड़ी रहती है। देह के बिना तो कुछ भी सम्भव नहीं है। प्रत्येक भाव-भावना-संवदेना, दैनन्दिन आचार-व्यवहार इस स्थूल भौतिकता से ही संचालित होते हैं। क्या आज तक कोई देहहीन से प्यार या घृणा कर पाया है ?" क्या आप स्वयं को इसका उदाहरण बनाकर प्रस्तुत कर सकती हैं ?"

मेरे लम्बे व्याख्यान से मल्लिका घबराकर बोली, "बस-बस, और कुछ न कहिए—मैं किसी प्रेत की पूजा नहीं करती। मेरे लिए ही क्या किसी के लिए भी देह गौण नहीं हो सकती। मैं तो दूसरी ही बात कह रही थी कि शरीर अपने आप में तो कुछ नहीं है—जिस चेतना का शरीर में संचरण होता है वह तो सूक्ष्य तत्त्व ही कही जाएगी। एक समय पर मनुष्य देह-रति में सब कुछ भूला रहता है मगर शरीर वहीं रहता है—वहीं कहीं चला नही जाता पर शरीर की स्थूल उपस्थिति से हमेशा वही सब कुछ प्रेषित नहीं हो पाता जो देह और मन को अपरूप स्तर पर जोड़ सके।"

मैंने कहा, "यह तो तुमने वह कह डाला जो इस देश के-ऋषिमुनि भी नहीं कह सके—'वृथा जनम गँवायो तूने मूरख' की ध्वनि यही तो है। आखिर व्यर्थ क्या है ? व्यर्थ यही द्वन्द्व ही तो है जिसे लेकर हम सब जूझते रहते हैं और कोई किनारा नहीं पाते। भीतर के दर्द से ही रचनात्मकता

का सृजन होता है और उसे नारी के अलावा जान भी कौन सकता है।"

"नारी जो कुछ भी झेलती है उसमें बहुत कुछ उसके द्वारा चुना हुआ नहीं होता है प्रभाकर जी। वह कई तरह की यंत्रणाओं को सुखपूर्वक नहीं झेलना चाहती, पर प्रकृति ने उसके लिए कोई शार्टकट नहीं बनाया है इसीलिए अनचाहे भी उसे भांति-भाँति की पीड़ाएँ झेलनी पड़ती हैं।"

"लेकिन मातृत्व की पीड़ा तो वह सुख से ही झेलती है।"

मल्लिका हँसकर बोली, "ऐसा आपसे किसने कहा कि नारी को प्रसव-वेदना से अमृत पीने का सुख मिलता है—अगर उसे वह पीड़ा न झेलनी पड़े तो क्या वह इस बात की किसी से फरियाद करने जाएगी ?"

"लेकिन सन्तान के प्रति माँ का लगाव इसी पीड़ा के कारण तो बना रहता है।"

"यह भी मुगालते की बात है, या कहना चाहिए कि यह भ्रम भी पुरुषों ने अपनी कुटिल बुद्धि से फैलाया है। पिता जो माँ की तरह सन्तानोत्पत्ति का कोई भी कष्ट नहीं सहता क्या अपनी सन्तान के प्रति अनुरक्त नहीं होता है ?"

"शायद होता तो है पर माँ और जनक के वात्सल्य में डिग्री का कुछ फर्क होता होगा।"

"मैं नहीं समझती कि जनक अपनी सन्तान के प्रति परायेपन का व्यवहार करता है। अपनी सन्तान के प्रति उसकी ललक माँ से कम नहीं होती क्योंकि वह उसे अपनी निजी कृति मानता है। और न यह होते देखा गया है कि पुत्र अथवा पुत्री माता के प्रति ही अनुरक्त रहे क्योंकि उन्होंने माँ के पेट से जन्म लिया है और पिता के प्रति उनका लगाव गौण हो जाए क्योंकि वह उसके पेट से नहीं जन्मे हैं।"

"बात तो आपकी माकूल है पर हमारे समाज में सन्तान का सुख माँ की झोली में ही भरने का विचार प्रमुखता से स्वीकार किया गया है।" फिर मैंने कहा, "कुछ भी हो वह देह वाला सवाल तो अपनी जगह अडिग ही है। देह से हटकर कुछ भी करणीय नहीं है यद्यपि देह मात्र स्वयं में कुछ नहीं है।"

"यह देह की स्थूल उपस्थिति कितनी स्वीकार करने योग्य है मैं नहीं

जानती पर यह अवश्य मानती हूँ कि एक दूसरे से बहुत अलग और बहुत फासलों पर रहने वाले आत्मीय जन हमेशा यही महसूस करते हैं कि उनका प्रिय कहीं उनके बहुत निकट है। उन्हें वरसों का व्यवधान भी कुछ नहीं लगता।"

मैंने कहा, "पर पास रहने पर उनकी क्या स्थिति होती है—इस पर भी कभी विचार किया है ?"

"क्यों नहीं—अनेक वार सोचती हूँ कि उन्हें बरसों और युगों तक साथ रहने पर भी यही लगता है कि अभी कल ही तो एक दूसरे से मिले हैं। पुरानेपन का अहसास उन्हें नहीं काटता। आप बतला सकते हैं कि कौन-सी चीज उन्हें बिछुड़ जाने पर भी एक दूसरे से बाँधे रहती है—यहाँ मेरा तात्पर्य देह के सर्वथा बिछुड़ जाने से है—यानी उनमें से एक की मृत्यु भी हो जाए तो कोई अन्तर नहीं पड़ता।"

मैंने मल्लिका और उसके पति की आपसी अनबन और विग्रह का ज़िक्र नहीं किया पर संकेत में यह जरूर कहा, "मैं ऐसे अनेक लोगों से परिचित हूँ जो पति-पत्नी के रूप में साथ रहते हुए एक दूसरे को क्षण-भर बरदाश्त नहीं कर पाते—फिर भला उस प्रगाढ़ता का प्रश्न कहाँ उठता है जो उन्हें परस्पर बिछुड़ जाने पर बाँधे रह सकती है ?"

मल्लिका ने मेरी टिप्पणी को व्यक्तिगत रूप में आक्षेप के रूप में न लेकर कहा, "पर जरा एक दूसरे से परे हटा दीजिए उन्हें और तब देखिए कि वह किसकी बातें करते हैं—यह विग्रह भी उनके भीतरी प्यार का मुखर स्वरूप है।"

मैं उसकी मीमांसा पर हँसकर कहने लगा, "तब तो कलहप्रियता भी गहरे प्यार का ही मुखर स्वरूप है आपकी दृष्टि में।"

मल्लिका भी हँस पड़ी। "और क्या" कहकर उसने घड़ी देखी और वोली, "बहुत हो चुकी वाद-विवाद प्रतियोगिता, अब चलकर देखें हमारे हजरत कहाँ भटक रहे हैं।"

मैंने देखा कि लाख नाराजगी के बावजूद उसे वर्मा जी का ख्याल आ रहा था। वह इतनी सुन्दर और आकर्षक थी कि उससे कोई भी सुन्दर व्यक्ति प्यार कर सकता था। उसकी बातों में गहरापन और गाम्भीर्य था

हल्केपन की तो कोई गुंजाइश ही नहीं थी। सोचने-समझने में उसकी दृष्टि वहुत साफ थी। उसको इतनी देर मेरे साथ रहते हो गई थी और इस दौरान वह देह स्तर पर वरावर मेरे नज़दीक ही रही थी। कई बार तो इतनी सट गई थी कि मुझे अपने भीतर की ऊष्मा को जवरन दवाना पड़ता था पर उसमें देह का वह पाप दूर-दूर तक नहीं था जो देह के ताप से गरमाकर पिघलने लगता है।

कुतुवमीनार में नीचे से ऊपर आने वालों की संख्या वरावर वढ़ती जा रही थी। मल्लिका और मैंने ऊपर की मंजिल से चारों ओर एक नज़र डाली और लौटने को तैयार हो गए। मल्लिका नीचे उतरते हुए वोली, "चढ़ने में ही देर लगी थी, उतरने में तो जरा भी वक्त और मेहनत नहीं लगेगी।"

"उतर जाने में क्या रखा है—चाहे तो कोई फिसलकर नीचे पहुँच जाए, देर तो चढ़ने में ही लगती है।"

"फिसलकर नीचे पहुँचने के वाद वचेगा क्या? सारे कलपुर्जे अलग-अलग नहीं विखर जाएँगे?"

मैंने नीचे पहुँचने की वात कही है—कैसे और क्या की उसमें कोई गुंजाइश नहीं है।"

"ठीक है जव उस तरह नीचे पहुँच जाने की नौवत आने को होगी तो ऊपर से ही नीचे छलांग लगा देंगे—उस वार आपको भी साथ नहीं लाएँगे।"

"पर पहले से वतला जरूर देना।" कहकर मैं उसके साथ नीचे उतरने लगा।

हम दोनों को नीचे की ओर से आने वालों से वचकर चलना पड़ रहा था। युवक तो सरपट दौड़ते से आते थे गोया सीधी सड़क पर रेस लगा रहे हों।

छः

हम लोग कुतुबमीनार से बाहर आए तो देखा कि वर्मा जी का आस-पास कहीं पता नहीं है। हम लोगों ने सोचा, वह थक-हार कर किसी कैफेटेरिया में बैठे सुस्ता रहे होंगे। मैंने मल्लिका से यही कहा कि देर तक घूमते रहने के बाद वर्मा जी किसी रेस्टोरेन्ट में बैठकर चाय-वाय पी रहे होंगे।

हम दोनों बातचीत करते हुए कुतुबमीनार के परिसर में बने एक रेस्त्रां की तरफ चल दिए। चलते वक्त मेरी आँखें बराबर वर्मा जी की तलाश कर रही थीं। चारों ओर भीड़ ही भीड़ फैली पड़ी थी।

हमने एक-दो रेस्त्राँ ही नहीं देखे आसपास की सारी दुकानें भी छान मारीं पर वर्मा जी का कहीं अता-पता नहीं मिला। इसके बाद हम आस-पास के खँडहरों की तरफ निकल गए क्योंकि मैंने कुतुबमीनार में घुसने से पहले वर्मा जी को उसी दिशा में जाते देखा था। जब वह उधर भी कहीं नजर नहीं आए तो हम वापस लौट आए।

मैंने मल्लिका के चेहरे पर उभरती परेशानी को लक्ष्य किया तो मुझे लगा वह वर्मा जी के यों गुम हो जाने से भीतर ही भीतर शायद भयभीत हो रही है। मैंने उसे तसल्ली देने के लिए कहा, "बच्चे नहीं हैं जो भटक जाएँगे—यहीं कहीं बैठे होंगे। अब भीड़ भी तो इतनी ज्यादा है कि आदमी आसपास हो तो भी नजर न आए।"

उसने अपनी आँखों को निरन्तर इधर-उधर फैलाते हुए कहा, "लाख भीड़ हो पर उन्हें होना तो यहीं कहीं चाहिए था। क्या उन्हें मालूम नहीं था कि हम लोग ऊपर से उतरकर आएँगे तो उन्हें तलाश करेंगे।"

मैंने चुटकी ली, "लगता है वर्मा जी श्रीमती मल्लिका वर्मा की ज्याद-तियों से तंग आकर भाग खड़े हुए हैं। मुझे तो यह कुछ नल-दमयन्ती वाला मामला लग रहा है। बस अन्तर इतना ही समझना चाहिए कि राजा नल दमयन्ती को घोर वियाबान जंगल में सोते हुए छोड़कर भाग खड़ा हुआ था

और हमारा आधुनिक नल भीड़ भरे जंगल में धता बताकर भाग गया है।"

मेरी बात सुनकर मल्लिका गुमसुम ही बनी रही। मेरे विनोद का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उसके चेहरे पर छाई हुई गम्भीरता से यही लगता था जैसे वह भीतर किसी बात को लेकर परेशान हो। मैंने उसे उस मन:स्थिति से उबारने के लिए कहा, "मल्लिका जी, आप अभी तक तो अच्छी भली थीं, ऊपर कितनी अच्छी बातें कर रही थीं। आपका मूड एकाएक इतना कैसे उखड़ गया?"

मल्लिका बोली, "नहीं तो, ऐसी तो कोई बात नहीं है" पर मल्लिका के चिन्तायुक्त चेहरे से उसकी बात की प्रतीति नहीं हो पा रही थी।

मैंने उसे चिन्ता से उबारने की कोशिश की, "किसी भी स्थिति का निराकरण मुंह लम्बा करके बैठ जाने से होता नहीं है। अगर आप सारे विद्रूपों को काट सकने में असमर्थ हों तब भी उनके हावी होने से तो बचने का प्रयास तो करना ही चाहिए। इसके अलावा आपके पति भटक भी गए तो कहाँ जाएँगे। घूम-फिर कर घर तो पहुँच ही जाएँगे। वह तो वैसे भी घर में बैठने वाले नहीं हैं—जंगलों और अनेक शहरों में तो उनका आना-जाना बना ही रहता है।"

मेरे समझाने का मल्लिका पर कुछ प्रभाव पड़ा और उसके चेहरे का रंग थोड़ा बदल गया। मैंने उसे हँसाने और हल्का करने की गरज से कहा, "मल्लिका जी, आपके पति काम चाहे ठेकेदारी का ही क्यों न करते हों मगर मैं बातें करके उन्हें जितना भी जान सका हूँ उससे तो यही ध्वनि निकलती है कि वह दार्शनिक हैं। आधारभूत समस्याओं और मौलिक प्रश्नों पर सोचना पसन्द करते हैं। मुझे तनिक भी आश्चर्य नहीं होगा यदि मुझे पता चले कि वह महरौली के जंगल में किसी चट्टान के पीछे खरगोश वगैरह के बिल में बैठे चिन्तनलीन हों।"

मल्लिका ने मेरी बात पर कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की और चुपचाप साथ चलती रही। हमारे आसपास से बहुत से विदेशी जोड़े तथा युवक-युवतियाँ हाथ में हाथ डाले गुजरते चले जा रहे थे। उनके चेहरों पर कैसी भी मलिनता की छाया नजर नहीं आती थी। ऐसा लगता था जैसे अपने देश से

बाहर होने पर भी उन्हें यहाँ किसी प्रकार का बेगानापन नहीं सताता। इसके विपरीत अपने ही देश और अपनी भूमि पर मल्लिका बुरी तरह उखड़ी हुई लग रही थी। हम भारतीय अपने भीतर इतने गहरे असन्तुलन का शिकार होते हैं कि न कुछ सी बात को लेकर भी गहरी चिन्ताओं में पड़ जाते हैं।

मैंने मल्लिका को एक तरफ ले जाकर लॉन पर बिठा दिया और उसे वहीं रहने को कहकर खाने के लिए कुछ खरीदने चला गया। कुछ सन्तरे और बिस्कुट का पैकेट खरीदकर मैं लौटा तो मल्लिका एकदम रूआँसी होकर बैठी थी। मैंने उसके सामने सन्तरे और बिस्कुट रखे तो वह बोली, "अभी वहाँ ढेर सा खाया ही था, इसकी अभी तो कोई जरूरत नहीं थी।"

"जरूरत की बात नहीं है, आखिर हम लोग यहाँ बैठकर क्या करें? वर्मा जी की प्रतीक्षा तो करनी ही है, वह इधर-उधर काफी घूमने के बाद कभी तो लौटेंगे ही—तब तक हमारे लिए टूँगने का सामान तो चाहिए ही।"

मैंने सन्तरा छीलकर आधा उसे दिया और बोला, "यह एक ऐसा फल है जिसकी एक फाँक को आप चाहें तो डेढ़ घंटे तक नफासत से छीलती रह सकती हैं। इसके अलावा स्वयं न भी खाना चाहें तो सामने वाले आदमी को पेश कर सकती हैं। समय काटने का इससे बेहतर साधन यहाँ उपलब्ध नहीं है।"

मेरी बात सुनकर मल्लिका के चेहरे पर देर से छाई उदासी के बादल कुछ छंटे और वह हल्के से मुस्करा कर बोली, "मैं आपकी यह चालाकी समझती हूँ कि आप मुझसे अपनी मेहमांनवाज़ी कराना चाहते हैं मैं आपको सन्तरे छीलकर विदुर पत्नी की तरह खिलाऊँ!"

मैंने दोनों हाथों को आगे करके ना-ना करते हुए कहा, "अरे वह मत करने लगना वर्ना मैं तो बेमौत मारा जाऊँगा।"

"क्यों छिलके खाने से इतना डरते हैं!"

"छिलके खाने वाला कोई योगीराज कृष्ण ही हो सकता है फिर छिलके भी काहे के—सन्तरों के छिलकों को खाने से तो शायद कृष्ण जी भी कतरा जाते—विदुर पत्नी उनकी चाहे लाख भक्त हुई होती।"

"चलिए नहीं खिलाएँगे···" कहकर उसने सन्तरे की फाँक छीली और मेरी ओर बढ़ा दी। मैंने कहा, "यह तो घोर पाप होगा। आप मेरी मेहमान हैं, आपकी सेवा करना मेरा धर्म है। यह उल्टी चीज़ नहीं होगी, आप खाइए।"

मैंने बिस्कुट का पैकेट भी खोला और उसमें से एक बिस्कुट निकालकर मल्लिका की ओर बढ़ा दिया। उसने बिस्कुट लेकर इधर-उधर देखा और सामने फैले अखबार पर रख दिया।

सन्तरे की एक-एक फाँक वह कई मिनट तक छीलकर बड़े संकोच के साथ मुँह में रख रही थी—ऐसा लग रहा था जैसे वह बहुत बेमन से यह काम कर रही थी। उसकी आँखें बजरी बिछी हुई छोटी-छोटी पटरियों पर लगी हुई थीं। मेरे द्वारा दी गई तसल्ली से वह निश्चिन्त नहीं हो पाई थी।

मैंने उठकर खड़े होते हुए कहा, "अब चाहे जैसे भी हो, मैं वर्मा जी को कहीं से खोजकर लाता ही हूँ। लगता है आप उन्हें लेकर घोर दुश्चिन्ता में पड़ गई हैं।"

"चिन्ता-विन्ता मुझे बिलकुल नहीं है। मैं अब इस निश्चय पर पहुँच रही हूँ कि वह यहाँ से तो कहीं और ही जा चुके हैं।"

मैंने हैरत से उसकी ओर देखकर पूछा, "यह आप क्या कह रही हैं? मैं नहीं समझता कि वह हम लोगों को इस तरह छोड़कर कहीं जा सकते हैं। और उस हालत में तो बिल्कुल ही नहीं जा सकते जबकि उन्हें सौ फीसदी पता है कि हम लोग यहाँ उनकी प्रतीक्षा करेंगे।"

"उन्हें तो हम लोगों की कोई प्रतीक्षा नहीं है।"

"अजीब बात कह रही हैं आप। भला कभी कोई ऐसा करता है।"

"कोई करता है या नहीं मैं नहीं जानती हूँ मगर उनकी बात मैं पूरे विश्वास के साथ जानती हूँ कि वह यहाँ से कब के जा चुके हैं। बल्कि वह तो उसी समय चले गए थे जब हम लोग कुतुबमीनार में दाखिल हुए थे।"

मैं मल्लिका का चेहरा देखता रह गया। कुछ क्षण तक सोचने के बाद भी बात मेरी समझ में नहीं आई कि कोई शादीशुदा आदमी अपनी पत्नी को इस तरह छोड़कर कैसे चला जा सकता है और वह भी ऐसी स्थिति में जबकि वह जिस आदमी के घर में ठहरा हो उसे इस बात से असुविधा हो

सकती है—यहाँ तक कि वह कुछ गलत और हल्की बातें भी सोच सकता है।

मैंने संकोचपूर्वक कहा, "हाँ हो तो सकता है मगर यह उम्र के कारण ही हो सकता है। उन्हें सुबह से ही यहाँ सारा वातावरण रास नहीं आ रहा था। वह तो घर से भी नहीं निकलना चाहते थे। हम लोग एक तरह से जबरदस्ती ही उन्हें घर से बाहर निकालकर लाए थे।"

"जब मैं उनके संग होती हूँ तो खास तौर से इसी प्रकार की बातें होती हैं।"

मैंने उसकी बात को कोई तूल नहीं दिया और बोला, "अब तो यहाँ का मेला उखड़ ही रहा है। दो-चार मिनट और देख लेते हैं, फिर चलेंगे। हो सकता है, बाहर बस स्टैण्ड पर खड़े मिल जाएँ।"

मल्लिका विद्रूप से बोली "दो-चार मिनट देखें या युगों तक बैठे रहें—कोई अन्तर पड़ने वाला नहीं है।"

मैंने कहा, "अगर ऐसी बात है तो फिर उठिए, हम लोग अपनी शाम यहाँ क्यों गारत करें। कहीं और चलकर बैठेंगे।"

मल्लिका उठकर खड़ी हो गई। उसने अपनी साड़ी पर चिपके हुए घास के छिलके झाड़े और बोली, "चलिए।"

सात

मैं मल्लिका को लेकर चला तब भी मैं पूरी तरह विश्वास नहीं कर पा रहा था कि वर्मा जी इरादतन हम लोगों को छोड़कर चले गए होंगे। घर तो वह लौट सकते थे क्योंकि घर की चाभी पड़ौसी के पास थी और उसे मालूम था कि वर्मा जी और उनकी पत्नी मेरे मेहमान हैं। अगर वह वहाँ पहुँच भी जाएँगे तो उन्हें कोई असुविधा होने वाली नहीं थी क्योंकि नौकर भी तब तक लौट आया होगा।

कनाट प्लेस पहुँचकर मैंने मल्लिका से कहा, "अगर आपका मन हो तो हम लोग यहाँ थोड़ा घूमें-फिरें।" मल्लिका ऊहापोह से बोली, "देख लीजिए जैसा भी आप ठीक समझें—मैं तो अब खाली ही हो चली—कुछ खरीद पाने की स्थिति तो रह ही नहीं गई है।"

मैं उसकी बात तत्काल नहीं समझ पाया कि ऐसी क्या बात हो गई कि वह कुछ खरीदारी करना चाहे तो कर ही नहीं सकती।

"खरीदारी करने के लिए तो आप पूरी तरह स्वतंत्र हैं—अभी तो बाजार खुले हुए हैं। साड़ी वगैरह खरीदना चाहें तो खरीद डालिए।" फिर मैंने एक क्षण ठहकर कहा, "वैसे तो यह साड़ी-वाड़ी और बाकी सारा सामान सारे शहरों—यहाँ तक छोटे-छोटे कस्बों तक में मिल जाता है पर दिल्ली आने वाला सोचता है कि जब यहाँ आए ही हैं तो लगे हाथों क्यों न कुछ खरीद डालें। इसी दृष्टि से आप भी कुछ तो ले ही सकती हैं।"

"मेरे पास उन्होंने वह दृष्टि भी कहाँ छोड़ी है—उस दृष्टि को तो वह अपने साथ ही ले गए हैं, बल्कि मैं तो कहूँगी वह हमें छोड़कर गए ही इस-लिए हैं कि मैं दिल्ली से कुछ भी न खरीदूँ।"

मैंने उसकी बात पर गौर किया तो पाया कि उसकी बात एकदम सही है। जिस समय हम लोग कुतुबमीनार में दाखिल हो रहे थे तो वर्मा जी ने मल्लिका का पर्स भी ले लिया था।

मैं मल्लिका के इतनी देर तक तनावग्रस्त होने का कारण तत्काल समझ गया। वह वर्मा जी की प्रतीक्षा इस कारण भी कर रही थी कि वह लौटें तो उसका पर्स लौटा दें जिससे कि वह थोड़ी बहुत खरीदारी कर सके। लेकिन वह पर्स ले ही इस उद्देश्य से गए थे कि मल्लिका दिल्ली से कुछ भी न खरीद पाए।

यह एक बहुत ही जटिल परिस्थिति थी जिसमें किसी भी व्यक्ति का सहज और सन्तुलित रहना मुश्किल था। मैं सारी बात समझते हुए अब ज्यादा देर नासमझ नहीं बना रह सकता था क्योंकि अपने पति के व्यवहार से मल्लिका का अपमानित अनुभव करना मुनासिब ही था। कोई पति किसी अन्य अथवा बाहर के आदमी के सामने सरे आम यह आचरण करे कि पत्नी का पर्स ही लेकर चला जाए तो वह पत्नी शर्म से गड़कर नहीं रह जाएगी तो क्या करेगी ? पति को लेकर दूसरों का क्या विचार बनेगा यह सोच उस पत्नी के लिए घोर दुखदायी तो होगी ही साथ ही उसके मनोबल को भी हताहत कर डालेगी।

मैंने मल्लिका से कहा, "वर्मा जी का गड़बड़ाकर भटक जाना एकदम असम्भव बात नहीं है। हो सकता है वह बाद में वहाँ पहुँचे हों। बहरहाल अब जो भी परिस्थिति है उसे लेकर परेशान होने की कोई बात नहीं है—मेरे पास कई सौ रुपए हैं—आप जो भी खरीदना चाहती हैं, खरीद डालें। इसके अलावा मेरे लिए भी यह एक अनुभव होगा क्योंकि मैंने अभी तक किसी महिला के साथ बाजार में जाकर कोई खरीदारी नहीं की है। मैं देखना चाहता हूँ कि आप बाजार से सामान खरीदते हुए कैसी लगती हैं !"

मल्लिका के उदास चेहरे पर सहसा हँसी की क्षीण रेखा उभरी और वह बोली, "आप क्या समझते हैं कि बाजार से सामान खरीते समय महिलाओं के सिर पर सींग निकल आते हैं।"

मैं उसके कटाक्ष पर हँस पड़ा और बोला, "जब कोई लड़की महज़ किसी की प्रेमिका होती है तो शायद भाव-ताव करने की मानसिकता उसमें पैदा ही नहीं हो पाती। मैं यह जानना चहता हूँ कि पत्नी बन जाने के बाद उसमें भाव-ताव करने का कौशल किस मात्रा में विकसित होता है।"

"अगर कोई लड़की प्रेमिका बनने का सौभाग्य ही प्राप्त न कर पाए

और उसका विवाह हो जाए तो उसके सम्बन्ध में आपका क्या विचार वनेगा ?"

"मेरी दृष्टि में ऐसा कोई वर्गीकरण नहीं है। असल में नारी का कोई भी स्वरूप मेरी दृष्टि में भिन्न स्वरूप धारण नहीं करता। उसे तो हर मुहिम पर एक क्रूर व्यवस्था से जूझना पड़ता है। हमारे पूरे समाज की दृष्टि उसके सम्बन्ध में वहुत एकांगी है।"

"पर हर आदमी यह वात कहाँ सोचता है ? अगर सोचे तो इतना कठोर कैसे हो सकता है ? आप पुरुष हैं, चाहे मेरी वात का वुरा मानें—मैं यह कहे विना रह नहीं सकती कि पुरुष स्त्री से वैर भाव रखता है और वह कोई भी ऐसा अवसर नहीं चूकना चाहता जव वह स्त्री से वदला चुका सके। स्त्री की पूरी देह और मानसिकता इतनी निरीह है कि हर कोई उसे ठगना चाहता है। कोई उसे आदर्श पुरुष वनकर ठगता है, तो कोई डाकू-लूटेरा वनकर यानी राम या रावण वनकर।"

"जव आपने कोई ऐसा विकल्प ही नहीं छोड़ा कि वचकर निकला जा सके तो मैं क्या सफाई दूँ ? आपने वर्मा जी और मुझे एक ही धरातल पर प्रतिष्ठित कर दिया है तो मैं वर्मा जी की ओर से यही कह सकता हूँ कि मैं उनके स्थान पर खड़ा हूँ—उनका स्थानपन्ना वनकर नहीं वल्कि मात्र एक पुरुष वनकर। वह अगर नहीं हैं तो आप मुझसे काम चलाइए। मेरी ओर से तो कोई शर्त है नहीं—इसलिए आप यह मान लीजिए कि आपका पर्स वह मुझे ही दे गए हैं। आप निश्चिन्त होकर जो भी करना चाहें करें। मैं आप का सेक्रेटरी वनकर आपकी आज्ञा का अनुगामी वना हुआ हूँ।"

"सवाल पर्स का नहीं है। पर्स तो महज एक प्रतीकात्मक वस्तु है—असल चीज तो वह मानसिकता है जो किसी भी छोटेपन की ओर संकेत करती है।"

मैंने सामने एक आधुनिक रेस्त्राँ देखकर कहा, "वाकी वातें वाद में होती रहेंगी—मुझे तो जवरदस्त भूख लगी है।"

"अरे-अरे ! मैं तो यह वात एकदम ही भूल गई थी कि आपने घर से चलने के वाद कुछ खाया ही नहीं है। मैं तो पूरी स्वार्थी निकली। मैंने आप के विषय में तो कुछ सोचा ही नहीं। क्षमा कीजिएगा—मैंने जो कुछ भी

किया वह भूलवश ही किया है। कभी-कभी आदमी अपनी छोटी-सी चोट को लेकर इतना व्यस्त हो उठता है कि औरों के बड़े-बड़े घावों से बेखबर हो जाता है।"

"देवी जी, आप बात का बतंगड़ तो मत बनाइए। मैं वैसा भूखा भी नहीं हूँ और न आप मेरे साथ कोई ज्यादती ही कर पाई हैं। हाँ अब यह जरूर लग रहा है कि दुनिया के सारे छोटे-बड़े किस्से छोड़कर हम लोगों को ढंग से कहीं खाना खा लेना चाहिए।"

बातें करते-करते मैं मल्लिका को रीगल की बगल वाले रेस्त्राँ गेलार्ड में ले गया। वहाँ बहुत ही खुशगवार वातावरण था और एक मोहक धुन बज रही थी। यद्यपि अभी तक रात पूरी तरह वातावरण पर हावी नहीं हुई थी मगर रेस्त्राँ में रात का माहौल पूरी तरह मुखर हो रहा था।

मैं और मल्लिका एक कोने की मेज पर जाकर बैठ गये। मैंने मीनू उठाकर देखा और सरसरी नजर डालकर मल्लिका की ओर बढ़ाते हुए कहा, "देखो भई ! इसमें हम लोगों के लिए खाने-पीने को कुछ है भी या नहीं !"

मल्लिका ने भी मीनू पर छपे हुए खाद्य पदार्थ देखे और बोली, "मैं तो साधारण दाल-रोटी खाने वाली गँवार औरत हूँ—मुझे इन बड़े-बड़े अंग्रेजी नामों का क्या शऊर—आप जो भी खादा चाहें मँगा लीजिए।"

"आते तो यहाँ सभी लोग मेरे आपके जैसे हैं पर इन मेजों पर बैठ जाने के बाद वह कुछ और हो जाते हैं। पैसा खर्च करने में जिसकी सामर्थ्य बढ़ी-चढ़ी होती है वह शान बघारने के लिए वह सारी चीज़े मँगाता है जिनके नामों से वह कभी परिचित नहीं होता है। हम जिस युग में रह रहे हैं उसकी एक ही तो सबसे बड़ी विशेषता है।"

मल्लिका ने उत्सुकता दिखाई, "वह क्या विशेषता है ?"

"यही कि आपके पास बहुत-सा रुपया होना चाहिए। आपको किसी और गुण की आवश्यकता ही नहीं है।"

"यह तो प्रत्येक युग की विशेषता रही है में इसी जमाने में ऐसा हो रहा है, यह तो नहीं कहा जा सकता।" मल्लिका ने मेरी बात का प्रतिवाद किया।

"आप ठीक कहती हैं कि धन प्रत्येक युग में बड़ी चीज़ रही है—

सर्व गुणों का कांचन (स्वर्ण) में निवास है, यह संस्कृत की एक बहुत पुरानी उक्ति है मगर पुराने जमाने में महज रुपया-पैसा किसी वर्ग-विशेष की संस्कृति नहीं थी। रुपया और चीजों का पर्याय नहीं वन पाता था। धन की सम्पन्नता के साथ संस्कारों की और श्रेष्ठ मूल्यों की भी कद्र थी। आज तो पैसा ही एक अलग संस्कृति वन गई है—आप किसी तरह से भी छीन-झपट करके रुपया कमा लें—कोई यह नहीं जानना चाहेगा कि इस धन को आपने किस प्रकार अर्जित किया है।"

मल्लिका वोली, "तो आप यह कहना चाहते हैं कि आज की संस्कृति वलचर कल्चर है।"

"विलकुल सही कहा आपने—जिस प्रकार गिद्ध लाशों पर झपटते हैं उसी प्रकार हमारा धनिक वर्ग उच्छिष्ट पर झपटता है। विदेशों में जिन वस्तुओं को उच्छिष्ट का दर्जा प्राप्त है उन्हें पैसे के वल पर खरीदकर हमारे नवधनाढ्य फूले नहीं समाते हैं। ऐसी वस्तुओं पर धन पानी की तरह वहाया जाता है जिनका दिखावे के अलावा कोई मूल्य ही नहीं है।"

"इसका कारण क्या यह नहीं है कि हमें अपनी परम्पराओं का कोई ज्ञान नहीं है?" मल्लिका वोली।

"परम्पराओं की जानकारी की जरूरत समझता ही कौन है। हम लोग तो अमर वेल के मानिन्द हैं जिसकी कहीं जड़ नहीं होती लेकिन जो वृक्षों की हरीतिमा को लील जाती है।"

"वौद्धिकों को इस दिशा में कार्य करना चाहिए। जव समाज की दृष्टि मलिन होने लगती है तो देश के वौद्धिक इस जागरण का कार्य करते हैं।"

"वौद्धिकों की कौन सुनता है? उनका स्वर इस नक्कारखाने में किसी के कानों तक नहीं पहुँचता। सारा देश जिस मारक नशे के प्रभाव में जी रहा है वह किसी के हटाए हटने वाला नहीं है। वस ऐसी स्थिति में प्रकृति ही अपना काम करती है।

जव कोई समझाने से नहीं समझता तो उसे झिझोड़कर समझाना पड़ता है। प्रकृति हमेशा से यह कार्य करती आ रही है और आगे भी करेगी ही।"

मेरी वात पर मल्लिका के कोई टिप्पणी करने से पहले वैरा आकर

खड़ा हो गया। मैंने मल्लिका की ओर देखा। वह बोली, "आप जो भी चाहें मँगा लें। खाने के बारे में मैं एकदम सपाट हूँ।"

मैंने मीनू पर नज़र डालकर बैरा को कुछ खाद्य पदार्थों के नाम बतलाए और बोला, "बाद में कोई ठंडा पेय या आइसक्रीम दे देना।"

बैरा स्वीकृति में सिर हिलाकर चला गया।

मल्लिका और मैं बातें करते हुए आराम से खाना खाते रहे। इस दौरान मल्लिका एकदम सहज रही। वह अपने पति वर्मा जी के सम्बन्ध में मानो सारा कुछ भूल गई।

जब हम खाने से फारिग होकर रेस्त्राँ से बाहर निकले तो शाम हो चुकी थी और चारों ओर गहमागहमी और भीड़ की रेल-पेल शुरू हो गई थी।

मैंने मल्लिका से कुछ भी नहीं पूछा। सामने से एक खाली स्कूटर गुज़र रहा था, उसे रोककर करोलबाग चलने के लिए कह दिया।

आठ

करोलबाग में कपड़ों की बड़ी-बड़ी दुकानें हैं। मैं मल्लिका को एक साड़ी एम्पोरियम में ले गया और बोला, "आप यहाँ पर हर प्रकार की साड़ियाँ देख और खरीद सकती हैं। कीमती और सस्ती सभी तरह की साड़ियाँ यहाँ मिलेंगी और विविधता की भी कोई कमी नहीं है।"

एक क्षण मल्लिका मेरा चेहरा देखती रही और हल्के से मुस्कराकर पूछने लगी, "क्या आप इस जगह साड़ियाँ वगैरह खरीदने आते रहते हैं?"

"मैं यहाँ साड़ियाँ खरीदने तो आता हूँ पर वह मेरे लिए नहीं होतीं।"

"फिर वह कौन महाभाग्य है जो आपके साथ साड़ी खरीदने आती है?"

"वह आप जैसी ही कोई महाभाग्य या महाभाग्या होती है!

"लगता है साड़ियों के बाजार से आपका अच्छा परिचय है।"

"अगर दलाली का धन्धा करता तो अच्छी कमाई कर सकता था पर वह भी मेरे भाग्य में नहीं है।"

औरत को साड़ियाँ दिलवाने आएँगे तो साड़ी की दलाली में जेब खाली करने के अलावा आपके हाथ क्या लगने वाला है?"

मल्लिका की बात सुनकर मुझे धक्का लगा। वह वर्मा जी की हरकत का उल्लेख न करके भी उनके घटियापन का जिक्र कर रही थी। मैंने कहा, "फिक्र न करें, जब आप यहाँ से साड़ी खरीद लेंगी तो मेरा कमीशन मुझे मिल ही जाएगा।"

"मगर मैं एक ही साड़ी खरीदकर सन्तुष्ट होने वाली नहीं हूँ। अगर पसन्द आ गईं तो हो सकता है एक दर्जन ही खरीद लूँ।"

"आप मुझे डराने की कोशिश न करें। चाहें तो पूरा एम्पोरियम ही खरीद डालें। उस हालत में मैं फिल्मी अन्दाज में कहूँगा कि आप फलानी स्टेट की हिज़्हाईनेस हैं और सेवक आपका अदना-सा सेक्रेटरी है।"

"जी हाँ। यह मुँह और मसूर की दाल। मुझे देखकर कौन विश्वास

करेगा कि मैं एक धनी महिला हूँ।"

"धनी या निर्धन का तो कोई सवाल नहीं है—यह तो सिर्फ हवा बाँधने की बात है। मैं अब तक महज़ हवाओं को पकड़ने की कोशिश ही तो करता रहा हूँ। यह बात अलग है कि हवाएँ मेरे हाथों से बार-बार निकल जाती रही हैं।"

"हवाएँ पकड़ना छोड़कर कोई ठोस चीज़ क्यों नहीं पकड़ लेते।"

"ठोस चीज़ों को जब भी पकड़ने के लिए हाथ बढ़ाता हूँ—पता चलता है कि उन्हें पहले से ही कोई अपने अधिकार में किए बैठा है।"

"अगर आप अपनी दावेदारी को कहीं रेखांकित नहीं करेंगे तो उन्हें कोई भी कर जाने के लिए तैयार हो जाएगा। दावेदारी के लिए पंक्तिबद्ध होना पड़ता है जनाब।"

"बस यही तो मेरी मुश्किल है—मैं कभी इन्तजार नहीं कर पाया। मैं बहुत ही उन्मन स्वभाव का व्यक्ति हूँ, प्रतीक्षाएँ मुझसे हो ही नहीं पातीं। पर अब उस सब को बाद में देखूँगा—पहले आप भीतर चलकर साड़ियाँ तो देखिए।"

"मुझे साड़ी-वाड़ी कुछ भी नहीं देखनी है। मेरे पास बहुतेरी साड़ियाँ हैं। आप अब लौटकर घर चलिए। रात होने लगी है।"

"रात तो यहाँ हर वक्त ही रहती है—उसे आप छोड़ दें और इस उजाले के फैलाव में अच्छी भली साड़ियाँ देखें।"

"अगर आप साड़ियों को छाँटने में मेरी मदद करें तो मैं साड़ियाँ देख सकती हूँ।"

"मेरी एक ही बड़ी मुश्किल है—मुझे जो भी चीज़ एक बार में पसन्द आती है मैं उसी पर हाथ रख देता हूँ और फिर दूसरी की तरफ आँख भी नहीं उठाता।"

"औरतें तो बस इसी क्वालिटी पर जान देती हैं—आप एक बार यही करें।"

जब मैं और मल्लिका बातें कर रहे थे तो एम्पोरियम का कोई आदमी हमारे पास आकर बोला, "बाबू साब, अब दुकान बन्द होने का वखत आ रहा है। अगर आप लोगों को कुछ खरीदना है तो अन्दर चलकर अपनी

पसन्द की कोई चीज़ देख लीजिए।"

मैंने घड़ी देखी और मल्लिका से बोला, "चलिए जल्दी से कुछ देख डालिए वर्ना बाद में बहुत जल्दबाजी करनी पड़ेगी।"

मल्लिका बोली, "अगर आपका इतना आग्रह है तो चलिए कुछ देख ही डालें।"

मल्लिका जब भीतर जाकर सोफे पर बैठी तो सेल्स के लोगों ने एक मिनट में ही साड़ियों के ढेर लगा डाले। मल्लिका ने मेरी ओर देखकर पूछा, "अब उस एक पर अपना हाथ रखने जा रहे हैं या नहीं जो आपकी एक-मात्र पसन्द है !"

"पहले तो यह सौभाग्य आपको ही मिलना चाहिए—नम्बर दो पर मैं हाथ रखने से पीछे नहीं रहूँगा।"

मैंने चन्देरी की एक साड़ी को उठाकर कहा, "यह कैसी है, जरा देखिए और बतलाइए।"

"देखना-बताना क्या है, मैं तो इसी को सबसे ज्यादा कीमती समझती हूँ।"

मैंने दुकानदार से उसे पैक करने के लिए कहा और मल्लिका से बोला, "अब आप अपनी पसन्द का परिचय भी तो दीजिए मल्लिका जी।"

मल्लिका ने संकोच से कहा, "एक साड़ी ही काफी है—मेरे पास वैसे भी साड़ियों की कोई कमी नहीं है।"

"कमी तो होने का सवाल ही नहीं उठता, वह भी क्या औरत हुई जिसके पास साड़ियों का अभाव हो। मगर अधिक साड़ियाँ होने से यह कहाँ तय होता है कि किसी महिला की और साड़ियाँ खरीदने की इच्छा खत्म हो चुकी हो ? और फिर यह बात भी है कि जब कोई औरत और साड़ियाँ खरीदती रहेगी तभी न उसके पास बहुत-सी साड़ियाँ होंगी।"

दुकानदार ने मेरी बात सुनी तो वह हँस पड़ा और बोला, "बहन जी, ऐसा आदमी हमारे पास बहुत कम आता है जो अपनी वाइफ को साड़ियाँ खरीदने के लिए उकसाए। कई तो ऐसे आते हैं कि उनकी घरवाली जिस टाइम साड़ियाँ छाँटती हैं वह शोरूम से बाहर जाकर खड़े हो जाते हैं। उन्हें देखकर ऐसी दया आती है कि क्या कहूँ—बेचारे दिल पर पत्थर

रखकर घर वाली के संग आते हैं क्योंकि साथ आना तो उनकी मजबूरी ही होती है।"

दुकानदार की टिप्पणी सुनकर मैंने मल्लिका का चेहरा देखा। उसका चेहरा शर्म से लाल हो गया था। दुकानदार ने मल्लिका को मेरी पत्नी ख्याल करते हुए ही अपनी बात कही थी। दुकानदार को वास्तविकता से परिचित कराने का कोई औचित्य भी नहीं था क्योंकि उससे स्थिति में कोई अन्तर पड़ने नहीं जा रहा था।

मैंने मल्लिका के चेहरे से नज़र हटाकर दुकानदार से कहा, "मैं भी अब आपके शो रूम से बाहर जा रहा हूँ—यह जो भी साड़ी चाहें अपनी पसन्द से खरीदें।" यह कहने के साथ ही मैं कुर्सी छोड़कर उठ पड़ा।

मल्लिका भी मेरे साथ ही खड़ी होकर बोली, "नहीं, नहीं, इस वक्त मुझे और साड़ी खरीदने की इच्छा नहीं हो रही है।"

मैंने मल्लिका से और अधिक आग्रह नहीं किया। जेब से पर्स निकालकर साड़ी की कीमत का भुगतान किया और मल्लिका के साथ दुकान से बाहर निकल आया।

बाहर सड़क पर आकर मल्लिका चुपचाप मेरे साथ चलती रही। शायद वह अभी तक दुकानदार की टिप्पणी पर ही विचार कर रही थी। उस संकेत से उबरकर सहज ढंग से बातें करना शायद अभी कुछ देर तक सम्भव नहीं था।

मैंने मल्लिका की संकोचशीलता को तोड़ने के ख्याल से कहा, "जिन लोगों से परिचय का कोई दायरा ही नहीं है वह महज़ बाहरी बातों से अनुमान लगाते हैं।"

मल्लिका की मनःस्थिति में कुछ और ही चीजें घूम रही थीं इसलिए वह तत्काल मेरी बात का संकेत नहीं पकड़ पाई। वह मेरी ओर देखकर बोली, "बाहरी चीज़ें ही तो वह माध्यम हैं जिनको पकड़ा जा सकता है—भीतर की स्थितियों को जानने का उपाय ही लोगों के पास क्या है?"

"हाँ वही बात तो कह रहा हूँ। अब इस साड़ी वाले को ही देखो। उसे क्या पता था कि हम लोगों के सम्बन्ध वह नहीं हैं जो वह पूरे विश्वास के साथ समझ रहा था।"

"समझ लेने से क्या होता है? उसने अपने ढंग से जो भी समझा ठीक ही है। पति के अलावा औरतों को साड़ी दिलवाले और आता भी कौन है?" अपनी बात कहने के बाद शायद उसे अपनी स्थिति का ख्याल आया। वह दबे स्वर में बोली, "सभी पति हमारे श्रीमान जी जैसे थोड़ा ही होते हैं कि यह नौबत ही न आए कि पत्नी अपने मन की छोटी-मोटी चीज़ खरीद सके।"

मैंने मल्लिका के मन के अनुताप को गहराई से अनुभव किया और उसे सहज रूप देने की कोशिश की, "हमेशा घटनाओं का अर्थ वही नहीं समझना चाहिए जो मोटे तौर पर पकड़ में आता हो। कभी-कभी परिस्थिति एकदम अलग तरह की होती है और हम अपने अनुमान से कुछ का कुछ समझते रहते हैं।"

"हाँ ऐसा भी होता तो है पर जो कुछ आज उन्होंने मेरे साथ किया है उसके लिए गूढ़ अर्थों को खोजने की कतई जरूरत नहीं है। मैं इस तरह की परिस्थितियों को पहले भी भुगत चुकी हूँ।"

"जो आपके साथ हो चुका है, क्या उसे भूल जाने का कोई उपाय बाकी नहीं है? अगर आप उसी कचोट को बार-बार दुहराती रहेंगी तो सिवाय दुख भुगतने के हाथ कुछ नहीं लगेगा। उस बात को अब भूल जाइए।"

"आपके साथ जो कुछ भी गुजरता है उसे आप विस्मृत करके क्लीन स्लेट हो जाएँ—क्या ऐसा कभी हो सकता है? मस्तिष्क की सहज प्रकृति तो यही है कि वह अतीत और वर्तमान की सारी घटनाओं पर बार-बार भटकता रहे। इसमें लाभ और हानि का तो कोई प्रश्न ही नहीं है। मनुष्य अपनी स्मृतियों में ही ज्यादा जीता है—वही तो उसकी अपनी थाती है। मधुर स्मृतियों का आस्वाद मनुष्य को बुरी से बुरी स्थितियों में जीने का उत्साह प्रदान करता है। इसके विपरीत यह भी सच है कि दुखदायी स्मृतियाँ मन पर चट्टान की तरह भारी बन जाती हैं। लेकिन कोई आदमी अच्छी-बुरी स्मृतियों से पल्ला झाड़कर अलग हो जाए यह कभी नहीं हो सकता। हमेशा लाभ पर नजर रखने से ही तो लाभ नहीं मिल जाता। इसे मनुष्य का अपना भाग्य ही तय करता है कि उसके लिए क्या स्वीकृत हुआ है। सोच लेने से भी कुछ नई बात तो नहीं हो जाती है पर उस विवशता

से बचा भी तो नहीं जा सकता।" मल्लिका ने उदासी से अपना मन खोल-कर रख दिया।

बातें करते-करते मैं और मल्लिका करोलबाग से बाहर निकल गए तो मुझे ध्यान आया कि अभी घर पहुँचने में कम से कम दो घंटे जरूर लग जाएँगे। मैंने सामने से गुजरते हुए एक खाली तिपहिए को रोका और पुरानी दिल्ली स्टेशन चलने के लिए कह दिया।

मल्लिका मेरे साथ स्कूटर में आकर बैठी तो मैंने पूछा, "आज तो आप बहुत अर्ली जाग गई थीं, शायद थकान महसूस कर रही होंगी। घर पहुँचने तक दस तो जरूर ही बज जाएँगे। यों इस समय पुरानी दिल्ली से ट्रेनें हर पन्द्रह मिनट बाद जाती रहती हैं।"

"जल्दी तो मैं हमेशा ही जाग जाती हूँ। बहुत पुरानी आदत है—उससे मुझे कोई थकान भी नहीं होती है। शरीर की थकान तो बहुत साधारण-सी चीज़ है—पर मन की थकान तो आसानी से जा नहीं पाती।"

मल्लिका कहीं फिर अपने पति वर्मा जी का उल्लेख न कर बैठे इसलिए मैंने जल्दी से बात बदल दी, "हम घर पहुँचेंगे तो नौकर ने खाना बनाकर रख दिया होगा। उसे क्या पता कि हम लोग दिल्ली से खाना खाकर आएँगे।"

"आप मना भी नहीं कर आए?"

"मैं मना कैसे कर सकता था, मानो हम खाना खाकर न चल पाते और पहुँचने में दस-ग्यारह बज जाते तो फिर उसे खाना तैयार करने में आधी रात निकल जाती।"

पन्द्रह मिनट में ही हम पुरानी दिल्ली स्टेशन जा पहुँचे। जल्दी से टिकट खरीदकर मैं और मल्लिका प्लेटफार्म पर गए तो गाड़ी तैयार खड़ी थी। इस समय कई गाड़ियाँ जा रही थीं—हम एक्सप्रेस ट्रेन में चढ़ गए। हमारे बैठने के कुछ ही मिनट बाद गाड़ी चल दी।

नौ

शाहदरा तक गाड़ी ठीक गति से चली और बाद में स्टेशन पर ही ठहरकर खड़ी हो गई। लगता था आगे कहीं रेलवे लाइन में कोई गड़बड़ थी। मैंने प्लेटफार्म पर उतरकर जानने की कोशिश भी की किन्तु वास्तविकता का कोई ठीक पता नहीं चल पाया।

एक-एक करके अधिकांश सवारियाँ गाड़ी से उतरकर प्लेटफार्म पर ही आ गईं और गाड़ी के चलने की बेताबी से प्रतीक्षा करने लगीं। एक बार मैंने सोचा कि स्टेशन से थोड़ी दूर पर ही बसें खड़ी होती हैं, क्यों न ट्रेन छोड़कर बस ही पकड़ ली जाए। पर बाद में मैंने सोचा कि जिस ट्रेन से हम सफर कर रहे हैं वह मेल ट्रेन है, उसे अकारण ही ज्यादा देर तो रोका नहीं जा सकता। इसके अलावा और भी कई गाड़ियाँ इधर से गुजरने वाली थीं इसलिए थोड़ी देर प्रतीक्षा करना ही ज्यादा बेहतर होगा।

मैं और मल्लिका जिस कोने में बैठे थे उधर कई सीट खाली पड़ी थीं। पैसेंजर नीचे प्लेटफार्म पर चाय पीने चले गए थे। मैंने मल्लिका से चाय पीने के लिए पूछा तो वह बोली, "रात को चाय पी लेने पर मुझे फिर नींद नहीं आती। जब मुझे रात की नींद भगानी होती है तो मैं चाय पी लेती हूँ।"

मैंने हँसकर कहा, "आज तो अगर चाय नहीं भी पीओगी तब भी नींद भगानी ही पड़ेगी। इस गाड़ी के तो चलने के आसार ही नजर नहीं आते हैं अभी। पता नहीं वर्मा जी अब तक घर पहुँच गए होंगे या वह भी हम लोगों की तरह ही कहीं अटके पड़े होंगे।"

वर्मा जी का नाम सुनते ही मल्लिका को जैसे कोई भूली हुई बात याद आ गई। सहसा मुझे, अपनी गलती का अहसास हुआ। मैंने क्यों बैठे बिठाए वर्मा जी का नाम ले दिया? उनका नाम सुनते ही मल्लिका के चेहरे पर विचित्र-सा तनाव उभर आया। वह धीमे स्वर में बोली, "मुल्ला की दौड़

कहाँ तक हो सकती है। उनके भगोड़ेपन की भी वही सीमा है। जा ही कहाँ सकते हैं? आप उनको लेकर बेकार परेशान हो रहे हैं। वह पूरी तरह निश्चिन्त हैं और आनन्द में हैं। उनके जैसा व्यक्ति कभी किसी के लिए परेशान नहीं हो सकता।"

मैंने बात का सरलीकरण किया, "हर आदमी कमोवेश वैसा ही होता है। मनुष्य चेतन प्राणी है इसलिए उसके चरित्र के आयाम भी बहुत हैं। वह स्वयं ही नहीं जानता कि किस समय क्या आचरण करेगा। बहुत थोड़े से लोग ऐसे होते हैं जो पहले से पुख्ता इरादे बनाते हैं और उसी योजना के अनुसार काम करते हैं। दुनिया में प्रायः यही होता है कि हम लस्टम-पस्टम तरीके से जीते हैं। परिस्थितियों के धक्कों में निरन्तर डाँवाडोल होते रहते हैं। परिस्थिति की एक लहर आती है तो तट की ओर बढ़ जाते हैं। दूसरी लहर से फिर समुद्र के बवंडर में जा फँसते हैं। मनुष्य की नियति यही है कि वह आवर्त्त जाल में फँसता रहे और यों ही उसका जीवन व्यापार एक दिन समाप्त हो जाए। वर्मा जी या मैं, उस तरह के दोहरेपन से कोई मुक्त नहीं है। प्रकृति ने नारी को ही वह शक्ति दी है कि बिखरते आदमी को जोड़े रखे और इसमें कोई सन्देह नहीं है कि स्त्री ने प्रत्येक युग में पुरुष को बाँध रखने की सफल कोशिश की है। जब-जब आदमी ने भागने का प्रयत्न किया है नारी ने कोई नया और मोहक मंत्र आविष्कृत किया है। इसीलिए नारी को शतरूपा कहा गया है। पुरुष के लिए स्त्री हमेशा से एक पहेली बनकर रही है। आज विज्ञान का युग है और बाल की खाल का भी संश्लेषण विश्लेषण करने में कोताही नहीं बरती जाती पर बात वहीं की वहीं है—स्त्री आज भी उतनी ही दुर्बोध है और मोहक भी है। उसे औरत से पुरुष बनाने का षड्-यंत्र भी कम नहीं हो रहा है पर उस रूप में भी वह पुरुष नहीं बनती है बल्कि इस नए परिवेश में कुछ और ही तरह की मोहक लगती है।"

"यह सब कहने की बातें हैं प्रभाकर जी, कि वह मोहक लगती है, मारक लगती है, दुर्बोध लगती है। लगती कुछ भी नहीं है—आप जैसे कवियों की कल्पना का चमत्कार है। बाकी स्त्री उतनी ही दीन-हीन और सताई हुई है जितनी किसी भी जमाने में थी।"

"खैर अब तो उतनी सताई हुई नहीं रह गई है स्त्री। अपने अधिकारों

के प्रति अब औरत उतनी बेखबर नहीं है जितना कि एक सदी पहले थी। अंग्रेजों ने इस देश को पूरी शताब्दी तक परतंत्रता की बेड़ियों में जकड़े जरूर रखा है पर साथ ही यह भी सच है कि उसके शासनकाल में इस देश के लोगों में कई प्रकार की जागरूकता आई है।"

"आपका यह विचार विचित्र ही नहीं आश्चर्यजनक भी है। अगर अंग्रेज में इतनी सदाशयता थी उसे गांधी जी जैसे अहिंसावादी को यह चुनौती देने की क्या जरूरत थी कि अंग्रेज देश को छोड़कर चला जाए।"

"गांधी का अल्टीमेटम अपनी जगह दुरुस्त था मगर साथ ही यह भी एक वास्तविकता है कि हमें विदेशी शासन की कड़ी दासता के दिनों में भी बहुत कुछ ऐसा उपलब्ध हुआ जो इस देश के जागरण की आधारशिला बना आपने 'बून इन डिसगाइज़' की बात तो सुनी ही होगी। कोई आपका हित नहीं करना चाहता मगर उसके अनचाहे आपका हित उसी के द्वारा हो जाता है। अंग्रेज के यहाँ आने के साथ विज्ञान आया, विदेशी साहित्य आया, यूरोप के राजनीतिक विचार आए और इन सबका लाभ इस देश को मिलता रहा और अन्तिम लाभ यह मिला कि हमने अंग्रेज के विचार को लेकर ही स्वतंत्रता का शंखनाद फूंका और उसे उसी के सिद्धान्त के बलबूते देश से बाहर कर दिया। आप मानें या मानें लेकिन मेरा ध्रुव विश्वास यही है कि स्त्री-जागरण का श्रेय भी अंग्रेज को ही जाता है। चाहे उसके विचारों के ठोसपन को श्रेय दें या उस आन्दोलन को प्राथमिकता दें जिसमें स्त्रियाँ पुरुषों के समान ही सम्मिलित हुई—जेल गईं और तरह-तरह की कठोर यातनाएँ भुगतने में पुरुषों से किसी प्रकार पीछे नहीं रहीं। बाहर से शत्रु दीखने वाला हमेशा शत्रु ही नहीं होता, कभी-कभी उसी से संघर्ष करने में हमारी सोई हुई शक्ति जाग्रत होती है।"

मल्लिका मेरे निष्कर्षों पर व्यंग्य से मुस्कराकर बोली, "आपके हिसाब से तो फिर कोई शत्रु ठहरता ही नहीं है। जो हमारा अहित करता है—प्रकारान्तर से वह भी हमारा शुभेच्छु ही है।"

"यदि इसे आप क्षणिक तात्कालिकता से जोड़कर न देखें तो इसमें काफी सार है पर कठिनाई यह होती है कि हम तात्कालिकता के दबाव से मुश्किल से ही मुक्त हो पाते हैं। और तात्कालिकता का प्रसंग भूत, भविष्य

की ओर नहीं देखता वह केवल सीमित वर्तमान में प्रश्नवाचक बनकर खड़ा रहता है। तात्कालिकता आधार विहीन स्तम्भ की मानिन्द है जिसके धराशायी होने में अधिक समय नहीं लगता। वह बाहर से अपरिहार्य लगती है मगर भीतर से उसमें कहीं ठोसपन नहीं होता है।"

मल्लिका बोली, "प्रश्न ठोस होने का उतना नहीं है जितना कि अपरिहार्य होने का है। हम छुद्र संसारी जीव महान और स्थायी के लिए प्रतीक्षारत खड़े नहीं रह सकते हैं। जितना कुछ उच्च और महान है—वास्तविकता के धरातल पर देखें तो हवाई है। हमारी नज़र उधर जाती तो है पर उसके बहिरंग में उलझने की कोई जगह नहीं रहती—वह सारा कुछ इतना विस्तृत और झीना है कि उसमें अपने लिए ठहराव की गुंजाइश ही नहीं है।"

"पर हम सब भीतर से विनत तो श्रेष्ठ और पारदर्शी के प्रति ही होते हैं। ठोस से टकराकर जहाँ आश्रय खोजते हैं वह इन्द्रधनुषी नहीं है तो क्या है। आप भावना की वास्तविकताओं में जाएँ तो वहाँ वाष्प और ओसकण के अतिरिक्त क्या मिलने वाला है। कार्य-कारण सम्बन्ध को वहाँ तलाश करने पर कुछ अधिक हाथ लगने वाला नहीं है मल्लिका जी।"

"ठोस हो या पारदर्शी, इससे कोई खास अन्तर नहीं पड़ता। असली चीज तो यह होती है कि आपको जिन्दगी में क्या मिला है? आपको जो उपलब्ध है वह अन्य लोगों की दृष्टि में स्तुत्य और श्रेय हो सकता है पर वह आपके लिए कितना ग्राह्य है इसी से आपका और आपकी उपलब्धि का रिश्ता तय होता है क्योंकि उपलब्धि के परिणाम तो आपको ही भुगतने पड़ते हैं।"

मल्लिका की बात से असहमत होने का कोई प्रश्न ही नहीं था। क्योंकि उसने एकदम यथार्थ बात कही थी पर उसका यथार्थ बार-बार उसकी परिधि में ही चक्कर काटकर रह जाता था। अपने पति वर्मा जी को लेकर उसका पूरा अस्तित्व भाराक्रान्त हो उठा था। बाहर गुज़रने वाली बड़ी-बड़ी घटनाएँ हमें रंचमात्र भी नहीं छू पातीं पर हमारे जीवन की साधारण स्थितियाँ हमारे हृदय में न जाने कितना बड़ा आन्दोलन खड़ा कर देती हैं। मैंने वर्मा जी के सम्बन्ध में जो भी अनुभव किया था उसमें चालाकी

के बजाय निरीहता ही अधिक थी। मैंने कहा, "मल्लिका जी, हो सकता है हम लोगों के सारे अनुमान ही गलत हों। मुझे तो वर्मा जी बहुत भोले और निहायत सीधे आदमी मालूम पड़ते हैं। मैं उसी दिन से देख रहा हूँ कि वह आपके किसी भी निर्णय का विरोध नहीं करते। हाँ यह बात दूसरी है कि वह अपनी नापसन्दगी व्यक्त करने में बारीकी से काम नहीं लेते हैं।"

मल्लिका ने मेरी बात सुनकर कई क्षण तक तो कोई प्रतिक्रिया ही व्यक्त नहीं की और बाद में वह बहुत ठंडे लहजे में बोली, "आप सोचने-विचारने वाले आदमी हैं। लिखने-पढ़ने का काम करते हैं। स्पष्ट ही है कि मेरी अल्पबुद्धि वहाँ नहीं पहुँच सकती जहाँ आप आसानी से पहुँच सकते हैं। मैं यह भी दावा नहीं कर सकती कि मुझे मानव प्रकृति का कोई बहुत प्रामाणिक ज्ञान है पर एक बात तो मैं कह ही सकती हूँ कि जिस व्यक्ति के साथ रहते मुझे बरसों हो गए हैं उसके किसी न किसी स्वरूप से थोड़ी बहुत अवगत तो मैं हो ही सकती हूँ।"

"जानना भी बड़ी बात है मगर वह पूरी चीज़ नहीं है। यह तो आप मानेंगी ही शायद।"

"मान लेने में मुझे कोई एतराज़ नहीं है यदि आपको इससे सन्तोप मिलता है।" मल्लिका ने विरक्ति का भाव धारण करते हुए कहा।

"मेरे सन्तोप के लिए आप कुछ करें और आँखें बन्द कर लें, इससे मुझे कोई राहत मिलने वाली नहीं है।"

"हमें सहअस्तित्व के लिए कोई साझेदारी तो करनी ही पड़ती है। कोई ऐसी जमीन चाहिए ही जहाँ अपना निजीपन बचाए रखने के साथ-साथ जुड़े भी रह सकें।

"कई बार जिसे हम जुड़ना कहते या समझते हैं वह वास्तव में जुड़े दिखाई देने की विवशता होती है। इस विवशता को लाखों-करोड़ों लोग युगों से झेलते चले आ रहे हैं और स्थितियों की जकड़बन्दी में हमेशा इसे झेलते चले जाने के लिए अभिशप्त हैं।

मैंने कहा, "इस जकड़बन्दी को तोड़ने का कोई उपाय भी तो नहीं है। नवीनता ही एक ऐसी चीज है जो साँचों की एकरूपता को तोड़ती है—और नवीनता बाहर की दुनिया में बहुत ही कम होती है। नवीनता हम निर्मित

करते हैं। वही-वही गिनी-चुनी चीजें हैं, स्थितियाँ और परिवेश हैं। हम उसे कोई नया कोण देने की कोशिश करते रहते हैं। कहना चाहिए कि इस तरह हम खेल जारी रखते हैं। वही भूमि होती है, बस खिलाड़ी इधर से उधर हट जाते हैं और बार-बार वही जमीन बदलकर नवीनता के आभास देकर खेल चलता रहता है।"

"नवीनता के आभास की बात आप कह रहे हैं। मैं कहती हूँ कि आभास भी एक सच्चाई है लेकिन आभास बनाए रखने के पीछे जो कोशिश हो उसमें भी तो कोई ईमानदारी होनी चाहिए।" कुछ क्षण ठहरकर मल्लिका ने कहा, "सहजता भी उतनी संयोगजन्य नहीं है जितना कि लोग समझते हैं, उसे भी पूरी दयानतदारी से ही बनाए रखा जा सकता है। उपेक्षा अथवा शिथिलता सहजता को भी जीवित नहीं रहने देती है। जीवन में सारा कुछ प्रयत्न साध्य है—यहाँ तक कि वह भी जो बाहर से पूरी तरह प्रयत्न साधित दीख पड़ता है। लाखों वर्षों से विकसित होती चली आने वाली सभ्यता क्या है? यत्न साधित को अयत्न साधित या अनायास दिखलाने का उपक्रम ही तो है यह सब।"

"मैं मानता हूँ कि जीवन का समस्त व्यापार प्रयत्न और उद्यमशीलता से जुड़ा हुआ है। हम जितने ही उसमें सक्षम होते हैं, हमारा जीवन भी उसी अनुपात में सुन्दर और उत्साहप्रद होता चला जाता है पर सबके पास यह दृष्टि और अवसर हो ऐसा तो नहीं होता। प्रकृति की ओर से कोई ऐसा साम्यवाद अभी तक आरम्भ नहीं हुआ है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए निश्चित तौर पर स्वयं को सिद्ध करने के लिए अवसर पा जाएगा। पूरी जिन्दगी निकल जाती है पर ऐसा अवसर नहीं जुटता कि आदमी कभी सार्थक ढंग से थोड़े से क्षण जी जाए।"

"इसमें किसका दोष है?" मल्लिका ने पूछा।

"दोष किसका है और किसका नहीं इसका विचार करने का अधिकार हमें नहीं है। हमें सिर्फ अपने विवेक के इस्तेमाल करने का अधिकार है।"

मल्लिका मेरी बात पर हँस पड़ी और बोली, 'किस विवेक की बात पर प्रतीति की जाए? कहाँ है विवेक, कहाँ है अधिकार—कहाँ है अवसर?"

"जहाँ तक विवेक का प्रश्न है वह हमसे कहीं बाहर नहीं है।" मैंने

संक्षेप में कहा।

"हमसे बाहर तो कुछ भी नहीं है। पूरी सृष्टि हमारे भीतर है। ब्रह्म और ब्रह्मांड भी हमारे ही अन्दर है पर फिर भी हमें न कुछ-सी चीजों के लिए बाहर ही बाहर टक्करें मारनी पड़ती हैं। जिस विवेक के उपयोग की बातें आप कह रहे हैं उसे विवेक कौन घोषित करता है? अपना किया हुआ किसी को गलत अथवा अविवेकपूर्ण क्यों लगेगा?" मल्लिका ने विद्रूप से पूछा।

"निरपेक्ष तो कुछ भी नहीं है। सारी सामाजिकता समाजोन्मुख और सापेक्ष ही तो है। हमारे संस्कार और संस्कृति हमें जो दृष्टि देते है वही सामाजिक रचना का आधार प्रस्तुत करती है। उसी से विवेक-अविवेक और संगत-असंगत का भेद निश्चित होता है।"

मल्लिका ने एक तरह से मेरी खिल्ली उड़ाते हुए कहा, "वाह ज्ञानी जी आपने भी क्या बात कही है। संस्कारों से संस्कृति तय होने लगी तो फिर बेड़ा गर्क होने में तो क्षण-भर की भी देरी नहीं लगेगी।"

मैंने विमूढ़ भाव से पूछा, "वह कैसे?"

"एक ही क्यों—बहुत तरह से। यदि एक मनुष्य कसाई के घर में पैदा होता है तो उसके संस्कार सामान्यतया क्या होंगे?"

"जरूरी नहीं कसाई के ही हों—ब्राह्मण के भी हो सकते हैं।"

"तब तो जबरदस्त घपला हो जाएगा। ब्राह्मण के संस्कार लेकर जो लड़का कसाई के घर में पैदा होगा वह तो पैतृक व्यवसाय को घृणा की दृष्टि से देखेगा और इस तरह सारा धन्धा ही चौपट न हो जाएगा!"

"मनुष्य इस संसार में आकर अपने भीतरी संस्कारों की भूमि ही तो खोजता है। संसार में ऐसा कभी नहीं होता कि ब्राह्मण के पुत्र में हमेशा वही गुण हों जो ब्राह्मण की जीवनचर्या के लिए अपरिहार्य हैं। यही कारण है कि अति प्राचीन काल में जो वर्ण व्यवस्था प्रतिष्ठित हुई थी उसमें काफी लचक थी। व्यक्ति के लिए अपना वर्ण निर्धारित करने का अधिकार सुरक्षित था।"

"पर हमारे समाज ने उस लचक को कभी स्वीकार किया हो ऐसा तो नहीं लगता। हमारी वर्ण व्यवस्था संस्कारों के नाम पर एक क्रूरतम बेड़ी ही साबित हुई है। और आज भी उसमें कोई शुभ की ओर जाने वाला

लक्षण विकसित हुआ हो मुझे नहीं मालूम । वर्ण व्यवस्था के नाम पर जो एक जड़ सामाजिकता हमें मिली है उसने जीने की इच्छा ही लील ली है एक तरह से। रोज़ ही कितने नर-नारी इस वर्ण व्यवस्था की बेदी पर गाजर मूली की तरह काटकर फेंक दिए जाते हैं इसका कोई हिसाब नहीं है। सारा कुछ इतना गड्डमड्ड और होच-पोच है कि कोई मार्ग ही नहीं सूझता। यह भी कम विचित्र नहीं है कि पुरुष समाज चेतना सम्पन्न होने का दावा करने के बावजूद उसी जड़ सामाजिकता का हामी है जो युगों से इस समाज को निर्वीर्य और खोखला करती चली आ रही है।"

मैंने देखा कि बात कहीं से कहीं जा पहुँची थी। बात वर्मा जी के पलायन से आरम्भ हुई और सदियों तक घूम-फिर सामाजिकता और संस्कार-जन्य वर्ण व्यवस्था की वीथियों में घूम रही थी।

मल्लिका बोली, "दरअसल होता यह है कि हम लोग बहुत ऊँची उड़ान लेते हैं। यह भी एक तरह की मानसिक बीमारी ही है कि हमारा आशय तो बहुत हीन हो और उसे हम महानता की मालमल में लपेटकर पेश करें। यह एक पूरे समाज की कुण्ठा दृष्टि है। अब आप हमारे श्रीमान जी को ही लीजिए, वह बातें करते हैं तो वेद, वेदांग, पुराण सब उनके जिह्वाग्र पर आकर छोटे पड़ने लगे हैं लेकिन इस सबके पीछे दृष्टि यही रहती है कि उनकी पत्नी उनके बनाए हुए संकीर्ण साँचे से भी इधर-उधर न जाए और अगर किसी तरह निकल भागने की छूट ले ले तो उसका पर्स बेशर्मी से छीन-झपटकर उड़ंछू हो जाया जाए।"

बिना लाग-लपेट के मल्लिका ने जिस कड़वे यथार्थ को सामने रखा उसे एकाएक सुनना भी निहायत कर्णकटु लगा मगर उस तरफ से आँखें बन्द करने का तो प्रश्न हीं नहीं उठता था। यही नहीं, अब मैं वर्मा जी के व्यवहार को किसी मनोवैज्ञानिक सत्य में लपेटकर स्पृहणीय भी नहीं बना सकता था। मैंने कहा, "आपकी बात सही होगी ही मगर क्या यह नहीं हो सकता कि उनके इस आचरण के पीछे कोई नाराजगी या मानसिक विभ्रम हो।"

"आप चाहें तो इसकी ओर भी किसी तरह से शोध कर सकते हैं क्योंकि मानव व्यवहार की अंधी गलियों में घूमने का बहुत से लोगों को शौक

खुल कर जी लेने के अहसास के पीछे कोई अनैतिकता या पाप तो नहीं है।"

"आप शायद ठीक ही कहते हैं। खुलकर साँस लेने में भी कभी-कभी तो यह लगता है जैसे कोई अनधिकार चेष्टा कर रहे हैं। यह सिमटते-सिकुड़ते चले जाने वाला भाव ही संकुल, आत्मभीरु और अन्ततः आत्महीन बनाता है, रेत-नदी में नाव चलाने जैसा जीवन लेकर उफान की तरगें कैसे महसूस की जा सकती हैं?"

"की जा सकती हैं अगर उस सबसे आँखें मोड़ी जा सकें जो पूरे दृष्टि-पथ को घेरे रखता है लेकिन उसमें कुछ भी सँजोकर रखने योग्य नहीं है।" मल्लिका ने धैर्य से मेरी बात सुनी और बोली, "काश! मन के भीतरी स्तरों पर उतना भोलापन और वैरागी भाव सम्भव होता। भोलापन एक सुरक्षा कवच है पर बहुत कुछ अनायास जान लेने वाले को वह भी कहाँ मिल पाता है।"

आपने कभी वर्मा जी से खूब-खूब बातें की हैं? कभी यह जानने का प्रयत्न किया है कि उनके मन में कहीं कोई गाँठ तो नहीं है? कहीं आपको लेकर दुविधा का भाव तो नहीं है? कहीं वह यह तो नहीं समझते कि आप उनकी पकड़ या पहुँच के बाहर हैं?"

"नहीं, यह सब मैंने कभी नहीं जानना चाहा। बल्कि इन प्रश्नों के भीतर घुसने में मुझे अजब ढंग की लज्जा का अनुभव होता है। पारस्परिक अविश्वास को टटोलना घोर लज्जास्पद लगता है। बिना कहे जो नहीं है उसे कह-सुनकर भी कैसे पैदा किया जा सकता है।"

"पारस्परिक अविश्वास को टटोलना आपको लज्जास्पद लगता है पर क्या यह नहीं हो सकता कि इससे पारस्परिक विश्वास की भी कोई गति नहीं रहती। हम चाहे कैसी भी शंकाओं से घिरे हों—उनको भीतर मन के प्रकोष्ठ में दबाकर बैठ जाना सर्वाधिक भयावह है। क्या आप यह नहीं सोचतीं कि आपके पति कहीं इसी विश्वास की प्रतीति के अभाव में असन्तुलित होकर तो नहीं भटक रहे हैं? उनकी प्रतिक्रिया का रूप आप आसानी से न पकड़ पाती हों मगर उसकी अभिव्यक्ति का अटपटापन ही काफी कुछ कह जाता है। आप जिस दिन से आई हैं उनसे पूरी तरह विमुख हैं। वह आपके या मेरे बारे में क्या सोचते हैं इसको लेकर आप कुछ भी नहीं

सोचना चाहतीं।"

"इसमें सोचने के लिए ऐसा क्या है ?" मल्लिका ने अबोध बनकर पूछा।

"अपने पति की मनःस्थिति के बारे में विचार करने के लिए आपके पास कुछ नहीं है ? आप इतनी गहरी, गम्भीर और बुनियादी बातों पर विस्तार से विचार और चर्चा कर सकती हैं पर अपने पति को लेकर एक छोटा-सा प्रश्न आँखों से ओझल कर देती हैं।"

"ऐसी तो कोई बात नहीं है जिसकी ओर से मेरी नज़रें हटी हुई हों, या मैं जान-बूझकर उपेक्षा कर देती हूँ !"

"क्यों नहीं है ? मैं आपको संकेत में बता देता हूँ। जिस दिन से आप यहाँ हैं वर्मा जी से आपका सम्बन्ध कतई सौमनस्यपूर्ण नहीं है। उन्हें इस सम्बन्ध में सोचकर क्या धक्का नहीं लगता होगा कि आप उन्हें छोड़कर एक ग़ैर आदमी में दिलचस्पी ले रही हैं। यह दिलचस्पी उन्हें अपने प्रति अपमान और उपेक्षा के अलावा क्या लग सकती है ? वह मेरे बारे में यह तो कतई नहीं सोचते होंगे कि मैं आप लोगों का शुभेच्छु हूँ।"

"ऐसा तो कोई कारण नज़र नहीं आता जो वह इस ढंग से सोचने को बाध्य हों। उन्होंने हम दोनों के सम्बन्ध को लेकर इस तरह की बेबुनियाद बात क्यों सोची होगी ?"

"इसलिए कि वह आपके जीवन में आंशिक रूप से और जबरन नहीं आए हैं। उनका आपने वरण किया है। पति की स्थिति में हर आदमी एक विचित्र संशय का शिकार होता है। वह अपनी पत्नी को किसी से बातें करते देखता है, हँसते-बोलते पाता है तो कुछ और बातें सोचे बिना रह नहीं सकता। उसका शत-प्रतिशत यही विचार बनता है कि उसकी पत्नी उसे छोड़कर किसी अन्य में दिलचस्पी रखती है।"

"मैं तो अपने सम्बन्ध में ऐसा कभी नहीं सोचती।"

"क्योंकि आप उस स्थिति से कभी गुज़री नहीं हैं। इस तथ्य को आप इस ढंग से सोचिए कि आपके पति किसी परिचित के घर में रहकर आपकी ओर से तटस्थ हो जाएँ और उस घर की गृहिणी के प्रति लगाव का मनोभाव दिखाएँ—चाहे उसका कोई भी गम्भीर अर्थ न हो—तब आप क्या सोचेंगी ? क्या वैसी स्थिति में आप सहज विश्वासी और प्रसन्नमना रह

सकेंगी ?"

मल्लिका मेरी बात सुनकर हँस पड़ी और बोली, "यदि मेरे पति ऐसा कर पाएँ तो मुझे आत्मिक प्रसन्नता होगी क्योंकि उससे मुझे यह अनुभूति तो होगी कि उनमें किसी के प्रति दिलचस्पी और लगाव जाहिर करने का माद्दा बाकी रह गया है।"

"मद्दा बाकी रह गया है न कहकर माद्दा पैदा हो गया है कहिए। पर यह सब शब्दों की ही बातें हैं। आपका वास्तविकता से अभी तक पाला नहीं पड़ा है। यदि वर्मा जी झूठमूठ भी कहीं अपना लगाव जाहिर करने लगे तो आप सम्भाल नहीं पाएँगी।"

"तो आप यही कुछ कर देखिए। फिर आप मेरी प्रतिक्रिया भी देख लीजिएगा।"

"जो होने की सम्भावना ही नहीं दीख पड़ती उसको लेकर आप निर्द्वन्द्व रह सकती हैं। पर तथ्य अपनी जगह कायम है, यानी आपका जो रवैया है उसे लेकर वर्मा जी कष्ट पा रहे हैं। बल्कि कभी-कभी तो मुझे यह अपराध-बोध होता है कि आप दोनों के मध्य मैं ही विग्रह का कारण हूँ। हो सकता है उनका यह ख्याल बन रहा हो कि मैं उनकी घर-गृहस्थी में जबरदस्ती आग लगाने की कोशिश कर रहा हूँ। यह भी हो सकता है कि आपके रुख से उन्हें गहरी निराशा हुई हो और उसी स्थिति में हम लोगों को कुतुबमीनार पर छोड़कर कहीं चले गए हों। मुझे भय है कि वह कहीं अपने शहर ही न लौट गए हों।"

मल्लिका के चेहरे पर तनाव उभरता दीख पड़ा, पर उसने स्वयं पर नियंत्रण करने की कोशिश की और धीमे स्वर में बोली, "आपका अनुमान एकदम बेबुनियाद है। जो पति किसी अल्प परिचत व्यक्ति के पास अपनी पत्नी को निश्चिन्त होकर छोड़ सकता है वह कहीं भी जा सकता है—मगर साथ ही मैं संशयहीन होकर कह सकती हूँ कि वह कहीं भी नहीं गए हैं, आप उनको सकुशल-सानन्द देखेंगे।

मैंने मल्लिका की ओर देखकर कहा, "इसके अतिरिक्त और आप चाहती ही क्या हैं? अगर वह भूल-भटककर घर पहुँच गए हैं तो हमें प्रसन्न ही होना चाहिए।"

समय राजा बाबू बनकर रहते हैं। जब घर में होते हैं तो इतना भी नहीं करते कि घड़ी में खुद वक्त भी देख लें । यह बात अलग है कि उनकी कलाई में घड़ी बंधी होती है और वक्त की बीवी को घड़ी देखकर बतलाना पड़ता है।" मल्लिका बोलते-बोलते आवेश में आ गई और उसने मुझसे पूछा, "इसे आप क्या कहेंगे ?"

"संसार में एक सेएकमहान विशेषताएँ हैं इसे भी उन्हीं चमत्कारों मेंसे एक,समझना चाहिए। जब लड़कियाँ निठल्ले और नाकारा लोगों से विवाह रचाती हैं तो उन्हें यह सब नहीं भुगतना पड़ेगा । आपकी यह अध्यापिका शादी से पहले क्या यह सब नहीं जानती थीं ? बस उस समय तो यही जल्द मची रहती है कि किसी भी तरह शादी हो जाये। बाद में जब इन गलतियों के परिणाम सामने आते हैं तो तरह-तरह के शिकवे-शिकायत करती घूमती हैं।

"आप बहुत एकांगी बात कर रहे हैं प्रभाकर जी। यह पुरुष की एकतरफा सोच है। बेचारी लड़कियों के सामने विकल्प भी क्या बच रहता है।"

"पढ़-लिखकर जब नौकरी कर सकती हैं, अपना शहर छोड़कर सैंकड़ों और हजारों मील दूर जाकर रह सकती हैं तो विवाह जैसे महत्वपूर्ण निर्णय को लेते समय इतना क्यों नहीं समझ पातीं कि वह उनके जीवन का एक निर्णायक प्रश्न है।"

"हमारे समाज में लड़की को पढ़-लिख जाने से कोई बड़ी स्वतन्त्रता नहीं मिल जाती है। बल्कि यही कहना ज्यादा सच होगा कि उसे पढ़ाया ही इस दृष्टिकोण से जाता है कि माता -पिता को उसका विवाह करने में कुछ कम झंझटों में पड़ना पड़े। हमारे घरों में लड़की को एक खास उम्र के बाद अविवाहित रखना माता-पिता को अपराधी घोषित करता है । बीस की उम्र पार होते ही लड़की घर में एक खतरनाक प्राणी समझी जाने लगती है। बस फिर तो यही होता है कि अभिवावकों को पुरुष नज़र आने वाला कोई भी कैसा भी, अपनी बेटी के लिए योग्य वर दीख पड़ता है । मानो उन्होंने जल्दी से लड़की के हाथ पीले न कर दिए तो पूरा घर जलकर भस्म हो जाएगा। ऐसी परिस्थितियों में किसी शिक्षित या बहुत ही

और आपाधापी मची है। हर कोई मात्र अपने लिए जी रहा है यद्यपि मूल्यात्मकता की बातें यूरोप के लोग भी उतने ही दम्भ से करते हैं।"

"आप सामन्ती युग को अच्छा समझकर उसकी जो वकालत कर रहे हैं—उसके अभिशाप को स्त्री ने जिस तरह झेला है उसकी ओर से शायद आपने आँखें मूँद ली हैं। सामन्ती काल में नारी को केवल बच्चे पैदा करने वाली मशीन या फिर दिल बहलाव का साधन समझा जाता था। समाज में यह वेश्या रूपी कोढ़ सामन्ती युग की ही देन है। नारी से जिस दैहिक पवित्रता की अपेक्षा की जाती रही है उसके लिए कोई भी आधार सामन्ती युग में औरत को दिया गया था।"

"मैं सामन्ती युग का कतई पक्षधर नहीं हूँ और न ही यह कहना चाहता हूँ कि पिछला जमाना आज से बहुत बेहतर था। मैं तो सिर्फ उन मूल्यों की ओर संकेत करना चाहता हूँ जो स्त्री के बनाए ही बने रह सकते हैं। बलिदान देना, धीरे-धीरे छीजते रहकर उदात्त की रक्षा कर ले जाना नारीत्व का मौलिक गुण है। उससे जब भी नारी विरत हुई है वह मात्र भोग तक सीमित रह गई है।

"यह भोग की संस्कृति जो इन दिनों 'वूमेन लिब' के नाम पर विकसित हुई है उसने सारी सामाजिकता को उलट-पुलट करके रख दिया है। स्त्री अपना मूल स्वरूप जबरदस्ती विस्मृत करके एक गलत होड़ में जीने लगी है। क्या इससे उसका अथवा समाज का कोई हित सधने वाला है?"

"समाज के मंगल की किसे फिक्र है—सब लोग तो एक अजीब-सी आपाधापी में जीते चले जा रहे हैं। इतना अवसर ही किसे है कि जरा ठहरकर अपने दाएँ-बाएँ कुछ देख-समझ ले? हम लोग एक जबरदस्त अस्वीकार में जी रहे हैं—यानी जो हमारे लिए नहीं बना। वह हमसे अजनबी है—हम उसके सम्बन्ध में सोचने से भी बचना चाहते हैं।"

मैंने मल्लिका की सोच पर दाद दी, "हाँ बिल्कुल यही हो रहा है। जिसे आप अस्वीकार कह रही हैं उसे मैं आत्मबहिष्कार कहता हूँ। आत्मबहिष्कार हमें अनात्म बनाता है और यह भारतीय समाज में और उसमें भी विशेष रूप से हिन्दू समाज में एक विजातीय तत्व है। हम अपने जीवन के लगभग सभी क्षेत्रों में आयातित मूल्यों को स्वीकार करते चले जा रहे हैं।

उदात्त और गम्भीर पति की ही जरूरत थी। दुर्भाग्य से वर्मा जी उसके मानसिक तंत्र को किसी भी प्रकार ग्रहण करने की मानसिकता नहीं रखते थे। इसमें उनका दोष भी नहीं था। उनके लिए मल्लिका सहज होते हुए भी अबूझ पहेली जैसी थी। कोई-कोई व्यक्ति ऐसा होता है कि उसमें सूक्ष्म भावों की अद्‌भुत पकड़ होती है—वह किसी भी सम्बन्ध के निर्वाह में सहज रूप से उत्साही होता है। इसके विपरीत अधिकांश लोग सामान्य सूझ-बूझ के स्तर पर इतने लद्धड़ होते हैं कि उनकी शिथिलता जुड़े हुए लोगों को बिना जरूरत भी आहत कर जाती है। ऐसे लोग भीतर से परपीड़क हों यह आवश्यक नहीं होता मगर उनके हाव-भाव ऐसे होते हैं कि कोमलता घायल हुए बिना नहीं रहती। वर्मा जी अपने स्वाभाविक शैथिल्य के कारण इसी प्रकार के गैर-जज़्बाती दिखलाई पड़ते थे।

मल्लिका को सान्त्वना देने की दृष्टि से मैंने सोचा कि उसकी सारी कड़वाहट को अभिव्यक्ति मिलनी ही चाहिए। मैंने उसका पक्ष लेते हुए कहा, "यह बात तुम सही कहती हो कि पति नाम का जीव शुरू में एकदम भिन्न किस्म का आचरण करता है और थोड़ा-सा वक्त बीतते ही 'आप' से 'तू' पर उतर आता है।"

मल्लिका बोली, " 'आप' से 'तू' पर उतर आने में तो मैं कोई ज्यादती नहीं समझती बशर्ते कि वह तू कलह का तू-तू, मैं मैं न हो। लेकिन होता यही है कि 'तू' में प्यार का नेहा नहीं होता बल्कि ताड़ना ही होती है 'आप' में भी कोई श्रद्धा का भाव नहीं होता। जब एक पति अपनी पत्नी को आप कहकर सम्बोधित करता है तो ज्यादा आशा यही करनी चाहिए कि वह व्यंग्य अथवा क्रूर परिहास में ही पत्नी को पीड़ा पहुँचा रहा है।"

"सम्बोधन की बात उतनी खास नहीं है लेकिन किसी भी सम्बोधन के पीछे जो मनोभावना काम करती है उसे तो अनदेखा नहीं किया जा सकता।" मैंने सम्बोधन की स्थिति को सामान्य बनाने के उद्‌देश्य से कहा।

मल्लिका ने गहरे अनुताप से कहा, "जो मैं कभी भूलकर भी नहीं चाहती थी—आखिर वही होकर रहा।"

मैंने पूछा, "आप क्या नहीं चाहती थीं।" "यही कि आपके सामने कोई विडम्बनापूर्ण स्थिति न आए और अनचाहे आपको एक घटिया परिस्थिति

से पीड़ित न होना पड़े।" मल्लिका ने पश्चाताप के स्वर में कहा।

मैं बोला, "आपका यह सोचना गलत है क्योंकि किसी भी वास्तविकता से मुँह नहीं मोड़ा जा सकता। जो स्थिति हमारे भीतर एक आन्दोलन उत्पन्न करती है और हमें मानसिक विक्षेप में फेंक देती है उसे छिपाकर रखने से कोई लाभ नहीं है। जीवन में जो भी चुनौतियाँ जिस समय आती हैं उनका डटकर मुकाबिला करने से ही कोई मार्ग निकल सकता है। परिस्थितियों से मुँह छिपाकर हम कभी भी निष्कृति नहीं पा सकते। आप यदि यह समझती हैं कि आपके पति आपकी मानसिकता को समझने में असमर्थ हैं या समझने के बावजूद आपको मनस्ताप ही देना चाहते हैं तो आप यह अन्याय क्यों सहती हैं ?"

"अन्याय अथवा ज्यादती सहने के अलावा हम स्त्रियों के पास दूसरा मार्ग ही क्या है ? प्रतिरोध करने का साहस भी करें तो किस जमीन पर खड़ी होकर करें !"

मैंने मल्लिका को समझाया, "जब आप अपने भीतर यह अनुभव करें कि आपको अकारण तकलीफ दी जा रही है तो फिर कोई भी आधार-भूमि तलाश करने की जरूरत नहीं है। अथवा सही प्रतिरोध स्वयं ही पुख्ता जमीन प्रस्तुत कर देता है। आपको स्वयं कुछ तैयार नहीं करना पड़ता—माहौल में ही चीजें स्वयं आकर मिल जाती हैं। आप यदि अप्रस्तुत नहीं हैं तो प्रासंगिकता स्वयं ही आपको खोज लेगी। मैं यह नहीं कहता कि आप फैशन के तौर पर विद्रोहिणी बन जाएँ पर आपको मार्ग में कोई अकारण अवरोध खड़ा करे तो फिर उधर से आँखें नहीं बन्द करनी चाहिए। जीवन एक सतत युद्ध है—हम संघर्ष बच नहीं सकते बल्कि सही संघर्ष से बचने की कोशिश हमें एक दूसरी जद्दोजहद में धकेल देती है—जो कहीं ज्यादा संकुचित और घटिया होती है।"

मल्लिका बोली, "आपने तो आज सारे दिन की स्थितियाँ देख ली हैं—मेरी ओर से ऐसा क्या अकरणीय हुआ है जो मुझे यह व्यवहार दिया गया। स्त्री का सहज भाव से जीना भी इतना भारी अपराध है कि उसे जलील करने की कोई हद ही न रहे ?"

"सीमा कोई भी नहीं जानता। सीमाएँ हम स्वयं बनाते हैं और स्वयं

ही उन्हें तोड़ते भी हैं। अपनी ओर से हदबन्दी करना आत्मानुशासन का ही दूसरा स्वरूप है। पर यह एक व्यापक दृष्टि के बिना मुमकिन नहीं है। सिकुड़ते चले जाने से छोटापन ही हमारा दायरा बनता है। हम अपनी परिधि को बड़ी बनाने के लिए प्रयत्नशील बने रहें यह आवश्यक है। हमारे शुभ संकल्पों और निर्णयों का हर कोई स्वागत करेगा। यह सोचना भी गलत है फिर हमें किसी को शब्दों में कुछ समझाने की जरूरत भी क्या है? आत्म-मंथन के बाद जो भी संकल्प आप लेंगी वह देर-सवेर अपनी व्याख्या स्वयं ही प्रस्तुत कर देगा। दूसरों की दृष्टि से स्वयं को तौलते रहना श्रेयस्कर नहीं है क्योंकि उससे भी हम स्वीकृत नहीं हो पाते। स्वयं को आँकने के लिए आपके भीतर का अनुमान ही सही पैमाना बन सकता है। दूसरों के माप-दण्ड से स्वयं को नापना आपको आपकी ही दृष्टि में गौण बना देगा। मैं तो आपसे यही कहूँगा कि आप अकारण किसी का भी अतिचार वरदाश्त न करें। मैं आपको अच्छा कहूँ या बुरा कह दूँ इससे आपको प्रभावित ही क्यों होना चाहिए।"

"स्वयं भी हम कोई निर्णय लेने में कहाँ स्वतंत्र होते हैं। ऐसा तो है नहीं कि इच्छित स्थितियाँ आपके सामने सजी हुई रखी हैं और आप मन से जिसे चाहें उठा लें। जहाँ हाथ पहुँच जाता है आप कुछ भी उठा लेते हैं। वह पत्थर है या हीरा यह क्या उसी समय तय हो पाता है?" मल्लिका ने मेरी बातों के उत्तर में ठोस तर्क प्रस्तुत किया।

"यही सही है कि हम हीरा या पत्थर में तमीज करके उन्हें चुनने के लिए स्वतंत्र नहीं हैं मगर जो भी हमारे हाथ पड़ता है उसे अपने शऊर और कौशल से अपने लिए उपयोगी बनाने के लिए स्वच्छन्द हैं। आदमी और इतर प्राणियों में यही तो एकमात्र अन्तर है कि हम अपने अस्तित्व को सार्थक दिशा देने का प्रयास कर सकते हैं। कार्य-कारण में संगति बिठा सकने की गुंजाइश तो हमें मिली ही है—इससे तो कोई भी इन्कार नहीं कर सकता।"

"हाँ यह सही है पर जिस कौशल की बात अभी आपने कही—क्या वह भी सब को मिल जाता है?" मल्लिका ने उत्कंठित होकर पूछा।

"वह कोई जन्मजात प्रकृति नहीं है। जीवन में पग-पग पर जो

"सवाल कितना चलने का नहीं है मल्लिका जी—सवाल है चलते रहने का। इस संसार में कोई कितनी भी दौड़ लगाए—कितना चल लेगा ? समय की कोई सीमा नहीं है—दिशाओं का कहीं अन्त नहीं है—जिधर भी आँखें उठाओगी हर दिशा में विराटत्व फैला दिखलाई पड़ेगा। ऐसी स्थिति में बहुत कुछ नाप डालने की होड़ आप किससे ले सकती हैं ? हाँ इतना भर ही कर सकती हैं कि किसी दिशा में चल सकने का व्रत ले लें। और मैं समझता हूँ यह भी कोई छोटी बात नहीं होगी।"

"दिशाएँ और विराटत्व और भी बड़ा धोखा पैदा करते हैं। आपके सामने एक ही गली या डगर हो तो आप उस पर चलते हुए कहीं पहुँच सकते हैं पर हर तरफ प्रशस्त, लम्बे-लम्बे रास्ते दूर तक खुले पड़े हों तो आप किस-किस रास्ते पर चलेंगे ? फिर यह भी कौन बतलाने वाला है कि इस रास्ते पर चलना ही अभीष्ट है।" मल्लिका ने गम्भीर स्वर में अपना प्रश्न मेरे सामने रख दिया।

मैं कई क्षण तक गहराई से उसके मनोमंथन पर विचार करता रहा। मुझे लगा कि मल्लिका ने जीवन और जगत की अबूझ पहेलियों में भरपूर विचरण किया है और वह निदान पाने के लिए सिरतोड़ प्रयत्न करती रही है। मेरे या किसी के भी सामने जीवन के प्रश्नों का कोई सामान्यीकृत निदान नहीं है इसलिए मैं उसे क्या रास्ता सुझा सकता था। मैंने बात को टालने की दृष्टि से कहा, "मकड़ जाल सरीखे फैले जगत जाल को कौन जानता है ? जो भी ऐसा दावा करता है वह दूसरों के साथ-साथ स्वयं को भी धोखे में डालता है। हम शुरू और अन्त नहीं हैं—बीच की कड़ी हैं और बीच से आप कुछ भी पूरा नहीं बदल सकते। कुछ बदलना भी चाहें तो वह सम्पूर्ण तो हो ही नहीं सकता। यही अधूरापन हर कहीं, हर किसी के साथ है पर फिर भी जीवन, जीवन है और उसके रंग तथा वैविध्य का कोई अन्त नहीं है।"

"लेकिन वह विविधता और रंगीनी देखने वाली आँखें भी सबक कहाँ बन पाती हैं ?" मल्लिका ने कहा।

"बहुत ही सरल है—बस इतना भर होना अपेक्षित है कि भीतर कोई गाँठ न हो। आप अपने सामने देखें तो अपार भीड़ चेहर

होकर अजनवीपन में तैरती नजर आएगी। लोग एक दूसरे से अनजान-असम्पृक्त चलते-वढ़ते नज़र आएँगे मगर थोड़ी-सी दिलचस्पी लेकर उन्हें देखना शुरू कर देंगे तो विस्मय और जिज्ञासा के कितने ही रहस्य खुलते नज़र आ जाएँगे। वही-वही नाक-नक्श, वही-वही रंग-रूप मगर प्रत्येक चेहरा अलग और अपने आपमें जवरदस्त मौलिक। वाहर ही नहीं भीतर भी सव कुछ एक-सा होते हुए भी विलकुल भिन्न और विविध। इस विविधता में कोई मिलावट नहीं है—यह अपने सपाटपन में उतनी ही मौलिक है जितनी महीनपन में। आखिर यह क्या है जिसे हम जानकर भी नहीं जान पाते। खोजकर भी नहीं खोज पाते। सिर मारते चले जाने से गाँठें और दुराग्रह वढ़ते ही चले जाते हैं—इसके विपरीत इसको स्थिर मन से स्वीकार कर लेने में अपनी रक्षा कर ले जाते हैं—विखरने से वच जाते हैं। सवसे वड़ी वात है अपने द्वार खोलकर रखना। हमें जो भी इन्तजार है वह द्वार वन्द कर लेने से तो और भी वढ़ते चले जाएँगे। प्रतीक्षाएँ उन्मन वनाती हैं। द्वार पर होने वाली दस्तकें सुनने में चूक हो सकती है पर खुले द्वार से आती पगध्वनि हमें किसी पहचान का सूत्र दे देती है।" मेरे लम्वे व्याख्यान से मल्लिका अप्रतिभ नहीं हुई। वह अपने धैर्य की रक्षा करते हुए कहने लगी—

"प्रभाकर जी! यह तो सही है कि इस दुनिया में हर वीमारी की दवा मौजूद है। इतना ही नहीं, प्रत्येक रोग का निदान करने वाले चिकित्सक भी कम नहीं हैं मगर क्या इससे वीमारियाँ कम हो सकी हैं?"

"प्रत्येक वीमारी का अपना अलग स्वभाव, लक्षण और निदान होता है। शायद सवसे वड़ी विडम्वना यह है कि वीमारी का जव उपयुक्त निदान कर सकने वाला अधिकारी चिकित्सक मौजूद होता है तो रोगी का कहीं दूर-दूर तक पता नहीं होता। जीवन में चूक जाने का क्षण ही सवसे अधिक दुखदायक है।"

मल्लिका ने एक लम्वी साँस भरकर कहा, "चूक जाने की वात जो आपने कही उस पर तो किसी का भी काबू नहीं होता। हम अपनी ओर से नाव होशियारी वरतते हैं। पर कहीं न कहीं कोई ऐसा छिद्र वाकी रह जाता है जो नाव को डुवाकर ही रहता है। जिस कौशल को लेकर लोग तरह-तरह की वातें करते हैं, चूक जाने वाले की आलोचना करते हैं, स्वयं

उसी स्थान पर आघात खा जाते हैं। उनकी सारी सतर्कता धरी की धरी रह जाती है।"

"तर्क और सतर्कता वास्तव में कई बार कोई कारगर काम नहीं कर पाती। 'कोई तदबीर बर नज़र नहीं आती' गालिब ने कहा भी है मगर फिर भी सतर्कता मानवीय गुण है जिसके चलते बहुत-सा अनाचार बच जाता है। क्या आप कह सकती हैं कि हम इसकी ओर से आँखें बन्द करके सन्तुष्ट रह सकते हैं? सन्नद्ध रहने से अपनी सन्तुष्टि होती है। जब कोई चूक हमसे हो जाती है तो हम देर तक पछताते हैं और सोचते हैं कि हमने यदि यह सतर्कता बरती होती तो यह अनहोनी शायद बच जाती।"

"पर कोई छोटी या बड़ी अनहोनी हमारे किए गए उपायों से कभी टलती है क्या?" मल्लिका ने सवाल किया।

"नहीं, मैं यह नहीं कह सकता कि सौ फीसदी आदमी की होशियारी ही सब कुछ है पर यदि वह एक प्रतिशत भी सुरक्षा दे सकती है तो उसे सर्वथा व्यर्थ नहीं कह सकते।"

मल्लिका का उत्तर मुझे सुनाई नहीं पड़ा क्योंकि इसी समय सहसा गाड़ी चल पड़ी। मैंने घड़ी देखी, दस बज चुके थे। हम लोग इतनी देर तक गम्भीर चर्चा में उलझे रहे इसका अब जाकर आभास मिला। मैंने हँसकर मल्लिका से कहा, "सोचो हम लोग इतनी देर तक फिलासफी में न उलझे रहते तो कितने बोर हो जाते। हालांकि बातें करते चले जाने से कुछ हासिल नहीं होता—यह महज वक्त कटी और अय्याशी मालूम पड़ती है लेकिन बेढब क्षणों को काटने के लिए फिलासफी की रस्साकशी भी एक अच्छा व्यायाम है।"

मल्लिका ने भी अपनी घड़ी देखी और बोली, "अरे! इतना वक्त निकल गया—बिलकुल पता नहीं चला। लेकिन हम लोगों को लौटने में काफी देर हो जाएगी।"

"देर तो गनीमत है—गाड़ी ने तो हमें एक ऐसी अनिश्चित स्थिति में डाल दिया था कि पूरी रात बातें करके काटने की मजबूरी हो सकती थी। चलो अब देर-सबेर घर तो पहुँच जाएँगे।"

दो-तीन किलोमीटर चलने के बाद गाड़ी फिर मन्द पड़ गई।

"वह ऐसे कि आपने खबरदारी अथवा सतर्कता की खाल खींच ही डाली। आपने साथ ही यह भी घोषित कर दिया कि किसी दुर्घटना को बचाने के लिए जागरूक रहना कतई आवश्यक नहीं है।"

मल्लिका बोली, "आपने मेरी मामूली बात को एक्सट्रीम तक खींच-कर उसका अर्थ ही बदल डाला। मेरा कहने का मतलब सिर्फ इतना ही था कि दुर्घटनाओं के पीछे कोई तर्क काम नहीं करता। दुर्घटनाओं का अपना तर्क अलग ही होता है। हम लाख कोशिश करके उन्हें बचाना चाहें पर वह फिर भी होकर ही रहती हैं बल्कि ज्यादा सच तो यह है कि वहाँ कोशिश करने से भी कुछ नहीं बनता। उदाहरण के लिए अगर आप अनजाने में केले के छिलके पर पैर पड़ जाने से रपट जाएँ तो क्या रपटते समय यह ख्याल रख सकते हैं कि आपको अमुक स्थान पर चोट न लगे?"

"उस समय मैं क्या कोई भी ख्याल नहीं रख सकता कि उसका हाथ बच जाए चाहे पैर टूट जाए।"

मल्लिका बोली, "बस वही बात मैं कह रही हूँ। आज की ही घटना को लीजिए। रेलवे लाइन पर गश्त लगाने वाली टुकड़ी फिश प्लेटें उखड़ने वाली लाइन के पास न पहुँचकर विपरीत दिशा में जा रही होती तो रेलगाड़ी का उलटना निश्चित ही था। यह महज संयोग की बात है कि वह वहाँ उचित समय पर पहुँच गई।" बात आगे बढ़ने से पहले ही हम लोगों की ट्रेन प्लेट-फार्म पर जा लगी।

दस

घर लौटने में आधी रात हो गई। मैंने सोचा कि अब तक वर्मा जी अगर लौट चुके होंगे तो गहरी नींद में सो रहे होंगे।

रिक्शे वाले को पैसे देने के बाद मैंने दरवाजे पर दस्तक दी और मल्लिका का चेहरा देखा। मल्लिका के चेहरे पर पिछले दो-ढाई घण्टे में कोई तनाव नहीं था लेकिन इस क्षण गहरी उद्विग्नता उभरी हुई दिखाई पड़ रही थी। यह स्वाभाविक था कि मल्लिका वर्मा जी के सामने जाते हुए अपनी सहज स्वाभाविकता से वंचित हो जाए।

द्वार पर दस्तक देने के कुछ ही क्षणों के अन्तराल से दरवाजा खुला और वर्मा जी आँखें मलते हुए सामने आकर खड़े हो गए। उन्होंने भारी गले से कहा, "आप लोग इतनी रात गए लौट रहे हैं। मैंने तो सोचा था कि आपका कार्यक्रम आज दिल्ली में ही ठहरकर कैबरे वगैरह देखने का होगा।"

वर्मा जी के शब्दों को सुनकर मैं सन्न रह गया। मैं कभी सोच भी नहीं सकता था कि उनके मन में हम लोगों को लेकर इतनी जबरदस्त कड़वाहट और क्रूर व्यंग्य हो सकता है! मैंने बात को बिगड़ने से बचाने की, "इतनी रंगीन जगह की कल्पना आपने खूब की वर्मा, जी पर इसमें मुश्किल एक ही थी कि हमारे साथ कोई रंगीन तबियत आदमी तो था ही नहीं। आप साथ होते तो हम लोग एक बार वहाँ जाने की भी हिम्मत करते।" अपनी बात कहकर मैंने मल्लिका का चेहरा देखा।

मल्लिका का चेहरा अपमान से अंगारे जैसा दहक रहा था। वह व्यंग्य से बोली, "जिनको नंगे बदन देखने की बड़ी चाह होती है वही सबको छतर बनाकर उन गलियों में पहुँच जाते हैं। उनके पास यह भी सोचने का विवेक नहीं बचता कि जिस भले आदमी के घर में ठहरे हुए हैं उसकी सुविधा-असुविधा का थोड़ा-सा ख्याल तो रखा ही जाना चाहिए। अपने स्वार्थ में अंधे होने की भी तो कोई सीमा होनी चाहिए। मामूली से मामूली आदमी

इतना कैलस नहीं हो सकता।" वर्मा जी हृदयहीनता से हँसकर बोले, "उसमें कैलसनेस (कठोरता) की क्या बात है, मेरी समझ में नहीं आता। अरे भाई जब किसी को मेरी जरूरत ही नहीं है तो मैं दाल-भात में मसूर-चन्द क्यों बनूं फालतू में।"

वर्मा जी की बात से मल्लिका भभक उठी और घर में घुसते हुए बोली, "जब कोई खुद को फालतू ही समझता है तो यहाँ भी लौटकर आने की क्या जरूरत थी। कोई होटल या सराय नहीं है यह, किसी भले आदमी का घर है।"

मैंने पति-पत्नी को शान्त करने के लिए कहा, "चलिए छोड़िए इस बहस को। चलकर आराम कीजिए आप लोग। अब रात बहुत हो चुकी है—सुबह तो देर तक सोया ही नहीं जा सकता।"

लेकिन मेरी बात पर उन दोनों ने कोई ध्यान नहीं दिया। मानो वह दोनों ही सो सकने की स्थिति में नहीं थे। दोनों के मन में जो ज्वालामुखी धधक रहे थे उनका लावा फूटकर बाहर आने को मचल रहा था। मल्लिका बोली, "इन्हें किसी के सोने की क्या परवाह? खुद तो खा-पीकर पड़कर सो लिए—फिर कोई भटकता हुआ कभी टाइम-बेटाइम घर में घुसे —उस पर कहाँ क्या बीती इससे खुदगर्ज़ आदमी को मतलब ही क्या?"

मैं देख रहा था कि जो मल्लिका मुझसे बातें कहते समय स्वच्छ और परिष्कृत नागर भाषा बोलती थी और उसकी बातों में गम्भीर सोच का पुट दिखलाई पड़ता था—अपने पति से तनी हुई और विकृत भाषा में संवाद कर रही थी। लगता है जहाँ आदमी की घनिष्ठता होती है वहाँ संयमित भाषा का अनुशासन नहीं निभा पाता। उसकी शिकायतें जैसे सुसंस्कृत भाषा में व्यक्त होते समय अपनी तीव्रता और प्रहार की शक्ति ही खो बैठती हैं। मल्लिका के आरोप को सुनकर वर्मा जी ने मेरी ओर देखा और चुनौती सी देते हुए बोले, "कुछ सुन रहे हैं आप प्रभाकरजी, इन माडर्न लेडी की कैफ़ियत। वही मसल है—मियाँ जी फजीहत, दूसरों को नसीहत। अब कोई भटकता हुआ वक्त-बेवक्त पहुँचे तो उसकी भी जिम्मेदारी मेरी ही है। अरे भई किसने मना किया था कि घर में कायदे से समय पर न पहुँचो? अब जब आपको नाव में सैर करने का शौक चर्राएगा—चाहे नाव चहबच्चे में ही

इतना कैलस नहीं हो सकता।" वर्मा जी हृदयहीनता से हँसकर बोले, "उसमें कैलसनेस (कठोरता) की क्या बात है, मेरी समझ में नहीं आता। अरे भाई जब किसी को मेरी जरूरत ही नहीं है तो मैं दाल-भात में मसूर-चन्द क्यों बनूं फालतू में।"

वर्मा जी की बात से मल्लिका भभक उठी और घर में घुसते हुए बोली, "जब कोई खुद को फालतू ही समझता है तो यहाँ भी लौटकर आने की क्या जरूरत थी। कोई होटल या सराय नहीं है यह, किसी भले आदमी का घर है।"

मैंने पति-पत्नी को शान्त करने के लिए कहा, "चलिए छोड़िए इस बहस को। चलकर आराम कीजिए आप लोग। अब रात बहुत हो चुकी है—सुबह तो देर तक सोया ही नहीं जा सकता।"

लेकिन मेरी बात पर उन दोनों ने कोई ध्यान नहीं दिया। मानो वह दोनों ही सो सकने की स्थिति में नहीं थे। दोनों के मन में जो ज्वालामुखी धधक रहे थे उनका लावा फूटकर बाहर आने को मचल रहा था। मल्लिका बोली, "इन्हें किसी के सोने की क्या परवाह? खुद तो खा-पीकर पड़कर सो लिए—फिर कोई भटकता हुआ कभी टाइम-बेटाइम घर में घुसे —उस पर कहाँ क्या बीती इससे खुदगर्ज़ आदमी को मतलब ही क्या?"

मैं देख रहा था कि जो मल्लिका मुझसे बातें कहते समय स्वच्छ और परिष्कृत नागर भाषा बोलती थी और उसकी बातों में गम्भीर सोच का पुट दिखलाई पड़ता था—अपने पति से तनी हुई और विकृत भाषा में संवाद कर रही थी। लगता है जहाँ आदमी की घनिष्ठता होती है वहाँ संयमित भाषा का अनुशासन नहीं निभा पाता। उसकी शिकायतें जैसे सुसंस्कृत भाषा में व्यक्त होते समय अपनी तीव्रता और प्रहार की शक्ति ही खो बैठती हैं। मल्लिका के आरोप को सुनकर वर्मा जी ने मेरी ओर देखा और चुनौती सी देते हुए बोले, "कुछ सुन रहे हैं आप प्रभाकरजी, इन माडर्न लेडी की कैफियत। वही मसल है—मियाँ जी फजीहत, दूसरों को नसीहत। अब कोई भटकता हुआ वक्त-बेवक्त पहुँचे तो उसकी भी जिम्मेदारी मेरी ही है। अरे भई किसने मना किया था कि घर में कायदे से समय पर न पहुँचो? अब जब आपको नाव में सैर करने का शौक चर्राएगा—चाहे नाव चहबच्चे में ही

ने हँसने की कोशिश की और परिहास का रूप धारण करते हुए बोले, "यह निशाचरों की भक्षण बेला है—और खाने-पीने के मामले में तो अब निशाचरी वृत्ति ही चलती है ज्यादातर। सफर करते हुए स्टेशनों पर उतर-उतर कर लोग रात के ढाई-तीन बजे तक खाते रहते हैं।"

मैंने उन्हें बतलाया, "हमें यह उम्मीद नहीं थी कि नौकर आज आएगा क्योंकि उसकी सुबह ही छुट्टी कर दी गई थी इसलिए हम लोगों ने तो दिल्ली में ही कुछ खा लिया था। बस चिन्ता आपको लेकर ही थी कि कहीं हरिया (नौकर) के न आने पर आप भूखे न बैठे रहें।"

"खैर, मैं भूखा बैठने वाला तो नहीं था। नौकर न भी आता तो अपने और आपके लिए कुछ चलता-फिरता खाना तो तैयार कर ही लेता। शादी से पहले क्या मैं अपना खाना बनाता नहीं था।"

वर्मा जी जिस सहज ढंग से यह बात कह गए कोई दूसरा आदमी कभी भी न कहता। मैंने यह देखा कि यह आदमी चाहे कितना भी होशियार या चालाक बनने की कोशिश करे मगर भीतर से भोला आदमी है। अपनी पत्नी को प्यार भी करता है और उसके मन मुआफिक चल सकने में भी सक्षम नहीं है। उसके लिए खाना बनाने को भी तैयार है मगर उसकी प्रसन्नता के लिए घूमने-फिरने से भी कतराता है। मेरे प्रति अविश्वासी भी नहीं है पर पत्नी को मेरे साथ छोड़कर सहज और निश्चिन्त भी नहीं है। पत्नी को प्रसन्नता देने से शायद पीछे भी नहीं हटना चाहता पर साथ ही पैसा खर्च करके कुछ खरीदा जाए यह भी नहीं चाहता। अजब अन्तर्विरोधों के बीच जीने वाला प्राणी है।

मैंने वर्मा जी से कहा, "आप तो वास्तव में बड़े जबरदस्त गुणी व्यक्ति हैं। पाक-शास्त्र में भी इतनी गति रखते हैं इसका तो मुझे कुछ पता ही नहीं था। अच्छी बात है, कल आपके जौहर देखेंगे।" यह कहकर मैंने पास पड़ी कुर्सी खींची और बैठकर जूतों के तस्मे खोलने लगा।

मल्लिका से मैंने कहा, "आप भी अपने कपड़े-वपड़े बदल डालिए और सोने की तैयारी कीजिए—बहुत रात जा चुकी है और आप तो आज दिन भर घूमते-घूमते थक भी गई होंगी।"

मल्लिका का रोष अभी कम नहीं हुआ था। वह झुंझलाहट भरे स्वर में

जब वह चौके की तरफ जा रही थी तो वर्मा जी बोले, "भाई साहब, मुझे तो इस वक्त माफी दें। मैं तो दिन के समय भी इस कड़वे रसायन को पीने से घबराता हूँ। आप लोग ही पीएँ। मैंने इसे पी लिया तो जो दो घंटे सोने का मौका मिल सकता है वह भी रतजगे में बदल जाएगा।"

मैं भी दिल से यही चाहता था पर मल्लिका ने वर्मा जी के इन्कार का कोई नोटिस नहीं लिया। वह हठपूर्वक बोली, "अब कोई पीए या ना पीए मैं तो काफी बनाने जा रही हूँ। सोने से पहले मुझे तो यों भी काफी पीना अच्छा लगता है।"

"कुछ लोगों को कड़वाहट उगलने के लिए पहले कड़वापन भरपूर मात्रा में पीना पड़ता है।" कहकर वर्मा जी हँसे।

"दूध पीकर भी ज़हर उगलने वालों का दुनिया में कोई अकाल नहीं पड़ गया है!" कहकर मल्लिका पैरों से जमीन को धम-धम रौंदते हुए चली गई।

वर्मा जी ने जाती हुई मल्लिका को सुनाकर कहा, "देखा प्रभाकर जी आपने! क्या हालत हो गई है दुनिया की। सीधी बात भी कहो तो उल्टा जवाब सुनने को मिलता है। यह मेरे काफी न पीने पर इनकी प्रतिक्रिया है। लगता है ससुरी सारी दुनिया ही ज्वालामुखी के मुहाने पर खड़ी हो गई है। किसी से कुछ भी कहने का धर्म नहीं रह गया है।"

मैंने वर्मा जी को शान्त करते हुए कहा, "छोड़िए वर्मा जी, आप भी क्या छोटी-छोटी बातों में पड़कर बेकार दुखी होते हैं। औरतों की बातों पर ज्यादा ध्यान ही नहीं देना चाहिए। अव्वल तो यह जानती ही नहीं हैं कि कब क्या कह रही हैं। अगर जान-बूझकर भी कुछ कहती हैं तो उन्हें यह पता नहीं रहता कि उनकी बात का क्या मतलब है। बेहतर स्थिति यह है कि आप उनकी बातों को सुनकर अनसुना कर दें। वह स्वयं भी तो अपनी कही हुई बातों को जल्दी ही भूल जाती हैं।"

वर्मा जी अनुताप से बोले, "प्रभाकर जी, आपकी बात ठीक है मगर यह भी एक वास्तविकता है कि आप बड़ी से बड़ी चोट को बरदाश्त कर सकते हैं। प्रत्येक घाव समय के अन्तराल से भर जाता है मगर बात वह चीज़ है जो कभी नहीं कटती। उसे कोई कुल्हाड़े से भी काटना चाहे तो नहीं

पर रखते हुए बोली, "पता नहीं कैसी बनी होगी !"

मैंने कहा, "अच्छी ही बनी होगी। अगर कुछ ज्यादा तल्ख हुई तो आप थोड़ा मधुर सम्भाषण करने लगिएगा। इसकी कड़वाहट खत्म हो जाएगी।"

मल्लिका ने अपने चेहरे पर बेचारेपन का भाव लाकर कहा, "मधुर सम्भाषिणी तो हो सकने की कोई गुंजाइश ही बाकी नहीं रह गई है अब—मैं तो तूरी तरह कलह-प्रिया हो चली हूँ।"

मैंने कहा, "उसमें कुछ ज्यादा खर्च नहीं होता है—वह तोर कभी तरकस के बाहर नहीं होता। आप जब चाहें उसे सम्मान से वापस उतार-कर अपने तरकस में डाल लें। कुछ चीजें ऐसी हैं कि उन्हें कभी भी कहीं से उधार लेने नहीं जाना पड़ता। अपने संवाद का माधुर्य भी वही चीज है—कितना भी सख्त बोल लेने के बाद आप फिर से मीठा बोल सकते हैं।"

मल्लिका ने हताशा की लम्बी साँस खींचकर कहा, "काश ! ऐसा मुमकिन हो सकता। अब वैसा हो सकने का कोई उपाय नहीं रह गया है।" यह कहने के साथ ही उसने काफी का प्याला मेरे हाथ में थमा दिया। इसके बाद उसने दूसरा प्याला उठाया और एक क्षण असमंजस में उसे लिए खड़ी रही। वह उस प्याले को वर्मा जी को देना चाहती थी लेकिन उसके भीतर की सख्ती और नाराजगी उसे सहज नहीं होने दे रही थी।

चाहता तो मैं इस स्थिति से उसे उबार सकता था। मुझे बस इतना करना था कि अपने हाथ में पकड़ा हुआ प्याला वर्मा जी की ओर बढ़ा देता और मल्लिका के हाथ का प्याला अपने लिए ले लेता। पर मैं यह नहीं करना चाहता था—इससे पति-पत्नी के मन में पलती हुई ऐंठ ज्यों की त्यों बनी रहती। इसलिए मैंने मल्लिका को उकसाया, "वर्मा जी को काफी दीजिए न। यह दूध ही पीते चले आ रहे हैं—थोड़ा-सा कड़वापन इनके हिस्से में भी तो आना चाहिए।

मल्लिका ने वर्मा जी का चेहरा देखे बिना काफी का प्याला उनकी ओर बढ़ा दिया।

वर्मा जी ने बहुत अनिच्छा दिखाते हुए काफी का प्याला पकड़ तो लिया मगर साथ ही यह भी कहना नहीं भूले—"यह भी कोई काफी पीने का

काफी लाजवाब बनाई है। हाँ तो मैं उस परिवार की कहानी आपको सुना रहा था। मेरे एक मित्र हैं जिन्हें संगीत से जबरदस्त चिढ़ है। वैसे पढ़े-लिखे, सभ्य, सुसंस्कृत डाक्टर हैं। पुस्तकों के भी जबरदस्त प्रेमी हैं। उन्हें आप अरसिक तो किसी भी अर्थ में नहीं कह सकते। संयोग से जिस लड़की से उनका विवाह हुआ वह संगीत और नृत्य दोनों में गहरी अभिरुचि रखती थी। शादी के बाद उसे पता चला कि डाक्टर पति संगीत के प्रति कोई लगाव नहीं रखते तो उसने भी संगीत को तिलांजलि दे दी। उसके तानपूरे, हारमोनियम और तबले धूल से अँट गए मगर उसने अपने पति की दिलचस्पी को ही प्राथमिकता प्रदान की। वह कभी भूले-भटके पति की अनुपस्थिति में थोड़ा गा-बजा लेती थी मगर उस तरह का लगाव कभी प्रदर्शित नहीं करती थी कि पति को कोई परेशानी हो।

"होते-होते शादी को पूरा साल निकल गया। उन लोगों ने अपने परिचितों, मित्रों को शादी की वर्षगाँठ पर आमंत्रित किया। खाना-पीना, हँसना-बोलना हुआ लेकिन संगीत की महफिल नहीं जमी। डाक्टर पत्नी की सहेलियों ने उससे नाचने-गाने का इसरार किया पर वह बहाना बना कर टालमटोल बतलाने लगी। सहेलियों ने बहुत आग्रह किया तो पति भी बोले, 'हाँ, गा दो जब उन सबका इतना मन है।'

" डाक्टर पत्नी ने अपने पति की ओर अचम्भे से देखा कि वह गाने का आग्रह कर रहे हैं। उसने सोचा, ऊपर ही ऊपर से इसरार कर रहे हैं सो टालते हुए बोली, 'गाऊँ कैसे ? यहाँ तो तबले पर संगत करने वाला कोई है ही नहीं।'

" पति बोले,'बिना तबले के हारमोनियम पर ही एक-दो गाने गा दो। जब लम्बे समय तक गाती रही हो तो इतना अभ्यास तो होगा ही कि बिना बाजों का सहारा लिए ही कभी-कभार तो गा ही सको।'

" पत्नी ने फिर टालने की कोशिश की तो डाक्टर स्वयं उठकर गये और हारमोनियम उठा लाये। इस पर डाक्टर साहब के घर आए मेहमानों ने प्रसन्नता से तालियाँ बजाईं और बोले, 'लीजिए अब तो आपके श्रीमान् ही चाहते हैं कि आप कुछ गाकर सुनाएँ।'

" पत्नी ने झिझकते हुए कहा, 'मुझे हारमोनियम पर गाने की आदत

बुजुर्ग और दमे के मरीज हैं। मेरे पेशेन्ट हैं सो मैंने उनसे इस शर्त पर तबला सीखना शुरू कर दिया कि वह इसका किसी से भी जिक्र नहीं करेंगे। यही हुआ। मैं थोड़ी देर तक के लिए उनके यहाँ चला जाता था। उन्होंने मुझे सिखाना शुरू किया तो मुझे उसमें रस आने लगा। फिर तो मैं दिलचस्पी लेकर सीखने लगा और मैंने सोचा कि खास मौके पर तुम्हें अपने तबला-ज्ञान का तोहफा भेंट करूँगा। तुम समझ ही सकती हो कि आज से अच्छा अवसर तो कभी आने वाला नहीं था। अब तुम बाकायदा अपना गाने का अभ्यास जारी रखो। मैं तुम्हें संगत देता रहूँगा।' "

मेरी बात सुनकर वर्मा जी ने मेरा चेहरा गौर से देखकर पूछा, "प्रभाकर जी, क्या यह सच्ची घटना है या आपने अपनी किसी कहानी का किस्सा सुनाया है?' "

मैंने हंसते हुए कहा, "इससे क्या अन्तर पड़ने जा रहा है ? घटना की सत्यता ही मुख्य मुद्दा है, बाद में तो प्रत्येक घटना कहानी ही बनकर रह जाती है। आप इसकी ऐतिहासिक सत्यता न ढूंढ़ें—बस यही देखें कि पति-पत्नी के सम्बन्धों में पारस्परिक समझ ही उन दोनों को जोड़ने वाला मुख्य आधार है।"

मल्लिका डाक्टर दम्पति का किस्सा सुनकर अभिभूत हो उठी थी। उसके चेहरे पर पूरे दिन तनाव का जो उतार-चढ़ाव होता रहा था वह इस क्षण पूरी तरह तिरोहित हो चुका था। वह सहज होकर बोली, "असल में दाम्पत्य जीवन का सबसे बड़ा दुखान्त यही है कि जो महत्वपूर्ण क्षण हँसी-खुशी से बिताने के लिए मिलते हैं उन्हें पति-पत्नी लड़ते-झगड़ते गुजार देते हैं। वह यह हमेशा ही भूल जाते हैं कि उन्हें साथ रहने के दिन बहुत ही कम मिले हैं—इस अवधि को पंख लगाकर उड़ जाने में जरा-सा भी वक्त लगने वाला नहीं है। यह बात उन्हें कोई बरबस याद भी दिलाए तब भी वह उसे याद नहीं रख पाते हैं।"

इस पल वर्मा जी भी कुछ दूसरे ही लग रहे थे। वह बोले, "जिन्दगी की सबसे भीषण ट्रेजेडी यही है कि हम पतझड़ को आमंत्रित करते हैं। प्रकृति में पतझड़ के बाद हमेशा ही वसन्त का आगमन होता है लेकिन मनुष्य के हेमन्त के बाद कभी वसन्त नहीं आता। हम लोग महज वसन्त

की स्मृति में जीते हैं। क्या ही अच्छा हुआ होता कि मनुष्य भी प्रकृति की ऋतुओं में ही जीता चला जाता।"

मैंने कहा, "यह ऋतुचक्र आपने देखा है क्योंकि आप ऋतुचक्र की भूमि में रहते और जीते हैं लेकिन बहुत कहीं तो यही होता है कि कोई ऋतु परिवर्तन ही नहीं होता—हमेशा एक जैसा ही मौसम बना रहता है। बस कोई समय ही ऐसा होता है जब थोड़ा-सा नाम मात्र का परिवर्तन आता है।"

वर्मा जी बोले, "वह भी क्या बुरा है कि हम हमेशा एक जैसे ही बने रहें और परिवर्तन हमें बहुत ज्यादा आन्दोलित न कर पाएँ, पर हम तो हर क्षण ही आन्दोलित होते रहते हैं—और स्वयं को कहीं भी रेखांकित नहीं कर पाते। पल में तोला पल में माशा वाली स्थिति हमें आत्म-नियंत्रण से बाहर कर देती है।"

मैंने कहा, "बस बात इतनी ही नहीं है लेकिन अक्सर पूरी जिन्दगी निकल जाती है और हम छोटी-सी समझदारी से वंचित रह जाते हैं।"

मल्लिका ने मेरी बात पर कोई टिप्पणी नहीं की। वह उठकर सोने के कमरे में चली गई। मैं और वर्मा जी बहुत देर तक बातें करते रहे। वर्मा जी ने मुझसे कहा, "घर से निकले हुए काफी दिन हो गए—अब इनकी छुट्टियाँ भी खत्म होने वाली हैं। आप कोई ठीक सी गाड़ी देखकर कल हमें सवार करा दीजिए।"

मैंने कहा, "ऐसी भी क्या जल्दी है ? आप लोग थोड़े वक्त और रहेंगे तो मेरी भी तन्हाई कटती रहेगी।"

मेरी तन्हाई की बात सुनकर वर्मा जी को जैसी कोई भूली हुई बात याद आ गई। वह बोले, "मल्लिका की एक 'कुलीग' बड़ी सुन्दर और होनहार है—आपके लिए बड़ी उपयुक्त जीवनसंगिनी साबित होगी। अब आपको औरऐसी प्रतीक्षा भी क्या रह गई है कि आप निस्संग रहते चले जा रहे हैं !"

मैंने बात को टालते हुए कहा, "अकेले रहना कभी-कभी खलता है मगर अब तो मुझे इसका इतना लम्बा अभ्यास हो गया है कि मैं इसे अहसास पर लाता ही नहीं हूँ। दाम्पत्य के बड़े गम्भीर दायित्व होते हैं, जिन्हें मेरे जैसा फक्कड़ और मस्त शायद एकाग्रता से निभा ही नहीं सकता।"

"ऐसा कुछ नहीं है साहब ! आप व्यर्थ भयभीत हो रहे हैं। इसके अलावा सब हमारे जैसे मूर्ख थोड़े ही होते हैं जो सब कुछ जान-बूझकर भी ऐन टाइम पर मार खा जाते हैं। आपने तो दूसरों के अनुभवों से वहुत कुछ सीखा-समझा है। आप स्वयं भी इन समस्याओं का समाजशास्त्रीय अध्ययन करते रहते हैं। दाम्पत्य जीवन में जो मादक सुगन्ध होती है उससे एक बार परिचित होना ही चाहिए।"

मैंने कहना चाहा कि वह मादक गन्ध मैं आपके जीवन में जितनी भरपूर देख रहा हूँ उसने मेरी हिम्मत की धुरी ही हिलाकर रख दी है पर मैंने कहा, "अच्छा आप जितनी मात्रा में प्रलोभन दे रहे हैं उससे मैं अनचाहे भी आकृष्ट होता चला जा रहा हूँ।"

वर्मा जी उठकर खड़े हो गए। वह उस तरफ जाने लगे जहाँ मैंने उन दोनों के सोने की व्यवस्था की थी। मैं अपने कमरे में चला गया और यह देखने के लिए फिर रसोई में लौट आया कि नौकर सुवह के लिए नाश्ते का सामान बाजार से लाया है या नहीं।

मैंने किचेन से वापस जाते हुए देखा कि वर्मा जी शयन-कक्ष के बाहर चक्कर काट रहे हैं। मल्लिका दरवाजा बन्द करके शायद सो गई थी। उसके कमरे में वत्ती भी नहीं जल रही थी। मेरे लिए वर्मा जी से उस सम्बन्ध में बातें करना एक दुर्वह स्थिति से गुज़रना था। मैं नहीं चाहता था कि पति-पत्नी के बीच की अनवन में मुझे इस हद तक आना पड़े।

मेरा ख्याल था कि मल्लिका ने अन्दर से साँकल नहीं लगाई थी, महज़ किवाड़ उढ़का दिए थे और वर्मा जी द्वार ठेलकर भीतर नहीं जा पा रहे थे। इसका कारण उनके भीतर वैठा वह अपराधी भाव भी हो सकता था जो उनके दिन के व्यवहार से सामने आता रहा था।

मैंने उनके निकट जाए विना ही पूछा, "क्या अभी सोने का मन नहीं है ?"

"नहीं-नहीं, ऐसी तो कोई वात नहीं है। काफी पीकर मुझे आसानी से नींद नहीं आती है। थोड़ा-सा टहलने के वाद सो जाऊँगा। आप अव आराम कीजिए।"

"अच्छा, शुभरात्रि !" कहकर मैं अपने कमरे में चला गया। मैं वत्ती

बन्द करके लेट गया पर मुझे नींद नहीं आई। मेरे मानसिक नेत्रों में आज दिन भर की सारी घटनाएँ एक-एक करके आने लगीं। मेरा मस्तिष्क अन-जाने में टोह लेता रहा कि वर्मा जी शयन-कक्ष के किवाड़ धकियाकर कब अन्दर जाते हैं। यद्यपि यह एक अनुसूचित जिज्ञासा थी। किन्तु मैं इस उत्सु-कता से स्वयं को उबार नहीं पा रहा था।

पता नहीं कब मेरी आँखें लग गईं। बीच में नींद टूटी तो मैं उठकर बाहर सहन तक चला गया। मैं यह देखकर सिहर उठा कि वर्मा जी अभी तक सोने के कमरे में नहीं गए थे। वह पूर्ववत् बाहर ही टहल रहे थे। मैं तत्काल अपने कमरे में लौट आया और मैंने ऐसा रुख अख्तियार कर लिया जैसे मैंने वर्मा जी को देखा ही न हो। मैं उस लज्जाजनक स्थिति से किसी तरह भी साक्षात्कार नहीं कर सकता था जो पति-पत्नी के बीच दीवार की तरह खड़ी थी। मैं निरन्तर यही अनुमान लगाता रहा कि मल्लिका ने भीतर से साँकल लगा ली थी या वर्मा जी का अहम् यह बर्दाश्त ही नहीं कर पा रहा था कि उनकी परिणीता ने उनके बाहर रहते हुए द्वार बन्द कर लिए थे।

मैंने समय देखा—साढ़े तीन बजे थे। मैंने बत्ती बन्द कर दी और चुप-चाप बिस्तर पर पड़ा रहा। मल्लिका और वर्मा जी दोनों ही उस अनबोले-पन की स्थिति में जा चुके थे जहाँ उन्हें कोई भी सान्त्वना नहीं दी जा सकती थी। पत्थर हो गए इन्सानों को पिघलाने का काम शायद परि-स्थितियाँ ही कर सकती थीं पर शायद अभी वे दूर और किसी अनदेखे कोने में खड़ी थीं।

• • •